जैन
श्रमण
धीयंगमेन्स जैन सोसाईटी.
अमदावाद. (गुजरात).

जैन श्रमण

(अहिंसादि लोकोत्तर गुणसम्पन्न और
भव्य लोकोपकारमय जीवन की रूपरेखा)

: प्रकाशक :
चीमनलाल केशवलाल कडिआ
मन्त्री, धी यंगमेन्स जैन सोसायटी
८५३, कालूपुररोड,
अहमदाबाद. १

मूल्य रु. १ : २५ एक रुपया पचीस नये पैसे

विषयदर्शन

१	लेख का प्रयोजन	१
२	जैन–धर्म में श्रमणों का स्थान	२
३	श्रमण शब्द की व्याख्या	७
४	श्रमण के पर्याय शब्द	१०
५	श्रमण होने का कारण	११
६	श्रामण्य किसे दिया जाय ?	१५
७	श्रामण्य किसको नहीं दिया जावे ?	१८
८	अनुज्ञा	३५
९	प्रव्रज्या–विधि	४५
१०	पांच महाव्रत	५२
११	चारित्र–निर्माण	६८
१२	दर्शनाचार	९७
१३	परिषहजय–तितिक्षा	११७
१४	दिनचर्या	१२१
१५	पदाधिकार	१२८
१६	लोकोपकार	१३९

परिचय

भारतीय संस्कृति कितनी पवित्र और विकसित है, उसकी सजीव झांकी महानिष्पाप और परोपकार–परायण जीवन जीनेवाले जैन श्रमणों में होती है। महाअहिंसा और सत्य आदि की दीक्षा ले कर खुले सिर और पैर गाँव गाँव पाद–विहार करनेवाले वे श्रमण विभूति जनता को व्यसन–त्याग और अहिंसा–सत्य–नीति इत्यादि का उपदेश देते हैं। परिणामतः जनता दयालु, परोपकारी और सदाचारी बनती है। करोडों रुपये का खर्च कर के न्यायालय, पुलिस इत्यादि तंत्र चलानेवाली सरकार को भी इस प्रकार जनता में सदाचार को फैलाकर अपराधों को घटाने का जो कार्य कठिन प्रतीत होता है, उसे आर्यभूमि के साधु–संत पुरुष बड़ी सरलता से करते हैं। बडे वेतनवाले अधिकारी और कर्मचारी भी समाज में से चोरी, हिंसा इत्यादि को नष्ट कर के नीति, अहिंसादि का प्रचार कितने गाँवों में कर सकेंगे? उनका प्रभाव भी कितना पड़ेगा? तब जैन श्रमण गाँव गाँव पैदल पहुँचते हैं और अहिंसादिका सन्देश राष्ट्र के कोने कोने में पहुँचाते हैं। और अपने जीवन त्याग और निःस्वार्थता पूर्ण होने से उनका अद्‌भूत गहरा प्रभाव पड़ता है। इससे कई लोग नीति आदि सदाचारवाले बनते हैं, अहिंसक, संयमी और परोपकारी बनते हैं। उपरान्त विद्वान श्रमणों के उपदेश से आध्यात्मिक उन्नतिकारक भव्य कलामय स्थापत्यों का एवं धर्मशालाओंका निर्माण, दान का प्रवाह, सामूहिक तीर्थ–यात्राएँ, प्रासंगिक संकट–ग्रस्तों का उद्धार....इत्यादि प्रवृत्तियाँ होती रहती हैं। ये पुण्यमूर्ति श्रमण भव्य साहित्य के सर्जन द्वारा भी प्रजाजीवन का सांस्कृतिक स्तर उठाते हैं। ऐसे कई तरह के उपकारों की वे वर्षा करते हैं। जैन श्रमणों की दिनचर्या भव्य त्याग, महान क्षमा, अहिंसा, ब्रह्मचर्यादि गुणों की

कड़ी साधनाओं से भरचक होती है। वे स्वकीय जीवन और उपदेश द्वारा जनता को घोर जड़वाद में से जाग्रत कर के अध्यात्म की ओर ले जाते हैं।

ऐसे साधु–महर्षियों का परिचय न होने के कारण इस प्रकार के असत्य आक्षेप किए जाते हैं कि 'साधु देश कों माररूप हैं,' 'उनसे कोई देश कल्याण नहीं होता,' 'ऐसे पवित्र–जीवन में बचपन से प्रवेश नहीं करना चाहिए, संस्करण नहीं लेना चाहिए,' 'साधु मांसाहार करते थे,' इत्यादि इत्यादि। यह बात हमारे देश के लिए खेदजनक है। साधु-संस्था को विस्तृत करना–कि जो आज अत्यावश्यक हैं–इसके बदले अनिच्छनीय एवं असत् आक्षेप–नियंत्रणादि डालकर उसका ह्रास करने का जो प्रयत्न किया जाता है इससे हमें यह साफ़ प्रतीत होता है कि ऐसा प्रयत्न समस्त मानवजाति के लिए शापरूप होगा।

अतः जैन श्रमणो का कुछ परिचय देने के लिये इस लघु पुस्तक की योजना की गई है। इसमें श्रमण बनने की पूर्व तैयारी से लेकर श्रमण जीवन की स्व–पर उपकारपूर्ण उच्च साधनाओं तक का क्रमबद्ध विवरण दिया गया है। प्रारंभिक साधु–साध्वीयों को भी संक्षेप में श्रमण जीवन का संपूर्णतः ख्याल इसमें से मिल जाता है। तथा आदर्श गृहस्थ–जीवन जीने के अभिलाषी को यह पुस्तक भव्य आदर्श देती है। तदुपरांत श्रमण के बारे में आज जो कई तरह के तर्क–वितर्क तथा आक्षेप किए जाते हैं, उनके बारे में यह पुस्तक सुंदर, स्पष्ट जानकारी देने के साथ साथ आदरणीय गुरुतत्त्व की समझ देती है। श्रमणों का परिचय पाकर सब श्रमण या श्रमणोपासक बनें, यही मंगल कामना।

चीमनलाल केशवलाल कडिआ
अमृतलाल जेशींगभाइ दलाल
मन्त्री, धी यंगमॅन्स जैन सोसायटी

: १ :

लेख का प्रयोजन

भारतीय संस्कृति के निर्माण में साधु–महर्षियों का महत्त्वपूर्ण योग रहा है। धर्म का मंगलमय स्वरूप उनसे विकसित हो पाया है। उनके द्वारा दर्शनशास्त्र की सूक्ष्म विचारधाराएँ प्रवाहित हुई हैं। साहित्य का सुन्दर स्रोत बहा है तथा नीति एवम् सदाचार की भावना उनके ही कारण बलवत्ती बनी है। इसीलिए वे सभी के लिये वंदनीय रहे हैं तथा सबों के लिए सेवा–पूजा व भक्ति के पात्र माने गए हैं।

साधु–महर्षियों में भी एक वर्ग ऐसा है कि जो उत्कट त्याग, अद्‌भुत तपश्चर्या एवम् उच्च कोटि के चारित्र के कारण भिन्न पड़ता है। वह वर्ग अहिंसा व अनेकान्त द्वारा भारतीय जनता का महान उपकार कर रहा है। वह वर्ग है, जैन साधु, जैन-मुनि या जैन-श्रमणों का संघ।

उनके लिए डॉ. सतीशचंद्र विद्याभूषण अेम. अे., पी–एच. डी. ने जो शब्द कहे हैं, उनको याद करना उचित है "The Jain Sadhu leads a life which is praised by all. He practises the vratas and the rites stricly and shows to the world the way one has to go in order to realise the Atma." जैन साधु ऐसा जीवन व्यतीत करते हैं कि जो सबों द्वारा प्रशंसनीय हुआ है। वे व्रत–विधान बड़ी सावधानी से करते हैं और आत्मा का साक्षात्कार करने के लिए जो मार्ग अपनाना चाहिए, उसका दुनिया को दर्शन कराते हैं।

इस विषय में केन्द्रीय सरकार के वाणिज्य–मंत्री श्री मोरारजीभाई देसाई के भी शब्द याद करने योग्य हैं। उन्होंने बम्बई राज्य विधान परिषद में एक चर्चा के समय कहा था कि "I must say to the credit of Jains, that the sadhus of Jain have still maintained a large measure of austerity and sacrifice which other orders have not maintained to that extent"

"जैनों की प्रशंसा करते हुए मुझे कहना चाहिए कि जैन साधुओंने अभीतक तप और त्याग की विशाल मर्यादा का पालन उच्च कक्षातक किया है; जो अन्य सम्प्रदायवालों ने नहीं किया है।"

ऐसे पवित्र जैन–श्रमणों के आचार–विचार और विधान का जनता को सुस्पष्ट ख्याल देना, यही इस लेख का प्रधान प्रयोजन है।

: २ :

जैन–धर्म में श्रमणों का स्थान

जैन–धर्म में श्रमणों का क्या स्थान है? हम इस प्रश्न का प्रथम उत्तर देंगे।

जैन–धर्म में पंच–परमेष्ठियों को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। और उनके स्मरण–वन्दन को सर्वपापहर माना गया है। उसमें तीसरा चौथा और पाँचवाँ स्थान जैन श्रमणों को दिया गया है। श्री पंचपरमेष्ठी नमस्कार सूत्र पर एक साधारण दृष्टि डालने से यह बात समझ में आ जायेगी।

श्री पंचपरमेष्ठि–नमस्कार–सूत्रम्

नमो अरिहंताणं ।
नमो सिद्धाणं ।
नमो आयरियाणं ।
नमो उवज्झायाणं ।
नमो लोए सव्वसाहूणं ॥

एसो पंच–नमुक्कारो, सव्व–पावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ॥

इस सूत्र का भावार्थ है कि :

१. अरिहंतों को, अर्हतों को नमस्कार करता हूँ ।
२. सिद्धों को, मुक्तात्माओं को नमस्कार करता हूँ ।
३. आचार्यों को नमस्कार करता हूँ ।
४. उपाध्यायों को नमस्कार करता हूँ ।
५. लोक में रहे हुए सभी साधुओं को नमस्कार करता हूँ ।

ये पंच–नमस्कार सभी पापों का नाश करने वाले है और सर्व मंगलो में प्रथम मंगल है ।

यहाँ पर स्पष्ट करना आवश्यक है कि आचार्य वे प्रमुख श्रमण है, उपाध्याय ज्ञानदाता श्रमण हैं और साधु सामान्य श्रमण हैं। अतः तीसरा, चौथा और पाँचवाँ पद श्रमणवर्ग को वंदन करने के लिए ही आयोजित किया गया है ।

जैनधर्म में श्रमणों को साक्षात् मंगल माना गया है, लोकोत्तम माना गया है, तथा शरण्य अर्थात् शरण में जाने योग्य समझा गया है। यह आवश्यक सूत्र निम्नलिखित पाठों से समझा जा सकेगा।

चत्तारि मंगलं। अरिहंता मंगलं। सिद्धा मंगलं। साहू मंगलं। केवलि पन्नत्तो धम्मो मंगलं॥

चत्तारि लोगुत्तम्मा। अरिहंता लोगुत्तमा। सिद्धा लोगुत्तमा। साहू लोगुत्तमा। केवलिपन्नत्तो धम्मो लोगुत्तमो।

चत्तारि सरणं पवज्जामि। अरिहंते सरणं पवज्जामि। सिद्धे सरणं पवज्जामि। साहू सरणं पवज्जामि। केवलिपन्नत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि॥

चार (चीजें) मंगल हैं। अरिहंत मंगल हैं। सिद्ध मंगल हैं। साधु—श्रमण मंगल हैं और केवलि प्रज्ञप्त (केवलज्ञान वाले भगवंत द्वारा कहा गया) धर्म मंगल हैं।

चार (चीजें) लोकोत्तम हैं। अरिहन्त लोकोत्तम हैं, सिद्ध लोकोत्तम हैं, साधु—श्रमण लोकोत्तम हैं और केवलि—प्रज्ञप्त धर्म लोकोत्तम है।

चार की शरण स्वीकार करता हूं। अरिहन्तों की शरण स्वीकार करता हूँ, सिद्धों की शरण स्वीकार करता हूँ, साधुओं—श्रमणों की शरण स्वीकार करता हूँ और केवलि प्रज्ञप्त धर्म की शरण स्वीकार करता हूँ।

जैन—धर्म में साधुओं—श्रमणों की गणना तीन तारक तत्वों में की गई है; जो सम्यक्त्व ग्रहण करते समय बोली जाती निम्न गाथा परसे स्पष्ट होती है।

अरिहंतो मह देवो, जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो।
जिण–पन्नत्तं तत्तं, इअ सम्मत्तं मए गहिअं॥

मैं जीवित रहूँ तबतक अरिहंत मेरे देव हैं। सुसाधु अर्थात् श्रमण मेरे गुरु हैं। और जिन भगवंत द्वारा प्ररूपित तत्त्व मेरा धर्म है। भवसागर को तैरने के लिए मैंने यह शरण स्वीकार की है।

तीर्थंकर अर्थात् अर्हन्त या जिन–आत्मा संपूर्ण विशुद्धि द्वारा केवलज्ञान प्राप्त करने के बाद धर्म–संघ का प्रवर्तन करते हैं। उनमें प्रथम स्थान साधु–साध्वियों को अर्थात् श्रमण–श्रमणियों को दिया जाता है और दूसरा स्थान श्रावक–श्राविकाओं को दिया जाता है। अतः धार्मिक क्षेत्र में उनका प्रभाव प्रधान रहता है। आज कोई भी धार्मिक क्रिया उनकी अध्यक्षता में, निश्रा में की जाती है। और जहाँ इस प्रकार अनुकूल परिस्थिति न हो वहाँ उन्होंकी स्थापना प्रस्थापित कर के काम सम्पन्न किया जाता है। इसलिए पू. श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणने विशेषावश्यक भाष्य में बताया है कि:—

गुरु–विरहम्मि य ठवणा, गुरूवएसोवदंसणत्थं च।
जिण–विरहम्मि व जिण–बिंब–सेवणाऽऽमन्तणं सफलं॥

जब साक्षात् गुणवन्त गुरु का विरह हो तब गुरु के उपदेश–आदेश को समीप में बताने के लिए स्थापना की जाती है। जैसे जिनेश्वर के विरह में उनकी प्रतिमा का सेवन और आमंत्रण सफल होता है, वैसे गुरु–विरह में गुरु की स्थापना भी सफल होती है।

साक्षात् गुरु का योग न मिलने से एक मनुष्यने गुरु–मूर्ति की स्थापना करके धनुर्विद्या प्राप्त करनेका दृष्टान्त हिन्दू–धर्म में सुप्रसिद्ध है।

साराश कि जैन–धर्म में श्रमणों को बहुत ऊँचा स्थान दिया गया है और उन्हें परमपूज्य परमाराध्य माना जाता है।

: ३ :

श्रमण शब्द की व्याख्या

आवश्यक निर्युक्ति में कहा है कि :—

निव्वाण–साहए जोगे, जम्हा साहन्ति साहुणो।
समा य सव्व–भूएसु, तम्हा ते भावसाहुणो ॥ १००२ ॥

साध् धातु पर से साधु शब्द बना है। इस पर से साधुपद की व्याख्या की जाय तो जो निर्वाण-साधक योगों को अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति कराने वाली क्रियाओं या अनुष्ठानों की साधना करते हैं, वे साधु कहे जाते हैं। "स्व–पर–हितं मोक्षानुष्ठानं साधयतीति साधुः" इस व्याख्या में भी ऐसा ही भाव रहा हुआ है। यदि भाव की सुंदरता पर व्याख्या की जाय तो जो सम है अर्थात् राग और द्वेष में खींच नहीं जाते हैं अथवा सभी प्राणियों को अपने समान मानकर सब व्यवहार करते हैं, वे साधु कहे जाते हैं।

यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि जिसने साधु का वेष पहना है, परन्तु साधु के गुणों से जो रहित है उसे जैन शास्त्र द्रव्यसाधु अर्थात् नाममात्र का साधु कहते हैं। परन्तु जो साधु के वेष के साथ साधु के गुणों से भी पूर्ण है, उसे जैन–शास्त्र भावसाधु अर्थात् सच्चा साधु कहते हैं।

---

* राग–दोस—विरहिओ समत्ति ।
श्री विशेषावश्यक भाष्य, गाथा ३४

श्री दशवैकालिक सूत्र में साधु की परिचयात्मक व्याख्या इस प्रकार दी गई है :—

महुकारसमा बुद्धा, जे भवन्ति अणिस्सिया ।
नाणा पिंडरयादन्ता, तेण वुच्चन्ति साहुणो ॥ अ.१.गा.५ ॥

जो 'संसार असार है, कामभोग निष्फल है,' ऐसा ज्ञान पाये हुए हों अर्थात् विराग के रंग से रंगे हुए हों, जो एक ही स्थान में प्रतिबद्ध न होते हुए विभिन्न स्थानों पर पैदल घुमनेवाले हों, जो इन्द्रियों तथा मन पर दमन करनेवाले हों तथा मधुकर या भ्रमर की तरह बहुत से स्थानों से थोड़ा–थोड़ा आहार ग्रहण करनेवाले हों, अर्थात् माधुकरी गौचरी या भिक्षा पर निभनेवाले हों; वे साधु हैं।

इस व्याख्या से यह स्पष्ट होता है कि जिन–साधु का आदर्श कितना उच्च है।

ऐसे साधुओं को समगुण की प्रधानता के कारण समण कहा जाता है। श्री उत्तराध्ययन सूत्र के २५ वें अध्ययन में कहा है कि:–

समयाए समणो होइ, बंभचेरेण बंभणो।
नाणेण उ मुणी होइ, तवेण होइ तावसो ॥

समता के द्वारा समण कहा जाता है, ब्रह्मचर्य द्वारा ब्राह्मण कहा जाता है, ज्ञान द्वारा मुनि कहा जाता है और तप द्वारा तापस कहा जाता है।

समतया शत्रु–मित्रादिषु प्रवर्तते इति समण(न.)

शत्रु–मित्रादि के प्रति जो समतापूर्वक वर्तन करते हैं; वे समण

हैं। इस व्याख्या में उपर्युक्त भाव ठीक उतरता है। संस्कृत भाषा में समण शब्द का श्रमण संस्कार हुआ है। उसकी व्याख्या इस प्रकार दी गई है :—

श्राम्यतीति श्रमणः—तप करनेवाला श्रमण हैं।

श्राम्यति श्रममानयति पञ्चेन्द्रियाणि मनश्चेति श्रमणः—

जो पाँचों इन्द्रियों और मन को श्रम पहुँचाते अर्थात् संयम में रखते हों वे **श्रमण** हैं।

श्राम्यति संसारविषयविरक्तो भवति तपस्यतीति वा श्रमणः—जो श्रम पालते हैं अर्थात् संसार के विषयों के प्रति उदासीन हैं—वैराग्य धारण करते हैं अथवा तप करते हैं, वे श्रमण हैं।

ये सभी व्याख्याएँ अपेक्षाविशेष से यथार्थ हैं। क्योंकि जैन श्रमण बहुत—सी तपश्चर्या करते हैं, इन्द्रिय और मन को नियंत्रण में रखते हैं और संसार को असार मानकर उसके प्रति विराग—वृत्ति रखते हैं।

: ४ :

श्रमण के पर्याय शब्द

जैनश्रमण ने गृहका—गृहस्थाश्रम का त्याग किया है, अतः उनके लिए कोई अगार—गृह नहीं होता है। इसलिए उनको **अणगार** कहा जाता है।

वे शुद्ध भिक्षा पर निर्वाह करते हैं; अतः वे **भिक्षुक** या **भिक्खु** कहे जाते हैं।

वे शिर पर केशलुंचन से मुंडन करते हैं, अतः वे **मुंड** कहे जाते हैं।

वे मोक्ष के लिए यत्न करते हैं इसलिए **यति** कहे जाते हैं तथा सम्यक् प्रकार से जीवरक्षादि संयम करते हैं अतः **संयति** कहे जाते हैं।

वे गृहस्थाश्रम की क्रियाओं से बहुत दूर निकल गए हैं, अतः उन्हें **प्रव्रजित** कहा जाता है।

वे ग्रंथ या परिग्रह रहित होते हैं, अतः वे **निग्गट्ठ** या **निर्ग्रंथ** कहे जाते हैं।

वे प्रतिज्ञापूर्वक आरंभ–समारंभ, हिंसाजनक क्रियाओ से विराम पाये हुए हैं, अतः वे **विरत** हैं।

उन्होंने क्षमा–गुण को अपनाया है, अतः वे **क्षान्त** कहे जाते हैं। क्षमाश्रमण कहे जाते हैं।

इन्द्रिय और मन का दमन करनेवाले होने से वे **दान्त** कहे जाते हैं।

जिनेश्वर भगवान् की आज्ञाओं का हमेशा मनन करनेवाले होने से उन्हें **मुनि** कहा जाताहै। "**मन्यतेऽसौ मुनिः।**"

वे बहुत–सी तपश्चर्या करते हैं, इसीलिए **तपस्वी** हैं।

वे ज्ञान द्वारा संसार को पार करते हैं, इसलिए **ऋषि** कहे जाते हैं। **ऋषति ज्ञानेन संसार पारमिति ऋषिः।** और साधारण ऋषियों से महान होने से **महर्षि** कहे जाते हैं। जैन–शास्त्रों में इन सभी नामों से उनका उल्लेख किया गया है।

परन्तु किसी किसी स्थान पर उन्हें **योगी** कहा गया है। क्यों कि वे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्ररूप योग की

साधना करते हैं। श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणने ध्यान शतक में श्रमण भगवान् महावीर की योगीश्वर के रूप में स्तुति की है।

वीरं सुक्कज्झाणग्गिदड्ढकम्मिन्धणं पणमिऊणं।
जोईसरं सरण्णं, झाणज्झयणं पवक्खामि॥

शुक्ल ध्यान स्वरूप अग्नि द्वारा कर्म स्वरूप इन्धनों को भस्म करनेवाले **योगीश्वर** और शरण्य, ऐसे श्री **वीर** को प्रणाम कर के मैं ध्यान सम्बन्धी अध्ययन कहता हूँ।

: ५ :

श्रमण होनेका कारण

जैनशास्त्रों का यह स्पष्ट अभिप्राय है कि आत्मा को अनन्त-अक्षय—अव्याबाध सुख की प्राप्ति सिद्धावस्था में ही होती है कि जिसे परमात्मदशा या मुक्तदशा कहा जाता है। ऐसी दशा सर्व कर्मों के नाश किये बिना उत्पन्न नहीं होती है। अतः सर्व कर्मों का नाश करना, उसे परम कर्तव्य माना गया है। यहाँ कर्म शब्द से नित्य—नैमित्तिकादि कर्म नहीं परन्तु भाग्य का कार्य करनेवाले सूक्ष्म पौदगलिक कर्म—स्कन्ध समझना है कि जिनके योग के कारण आत्मा की शक्तियों पर आवरण आ जाता है और आत्मा भवचक्र में विविध जन्म ले कर अनेकविध परतंत्रता, कष्ट और त्रास पाती है। सर्व कर्मोंका पूर्णतः नाश होना, वह संयम, तप तथा ध्यान की उत्कट आराधना पर निर्भर है। और ऐसी आराधना श्रमण जीवन को स्वीकार करनेवाले को ही संभव हो सकती है। अतः हरएक मोक्षाभिलाषी को अपने जीवन में श्रमण बनने का आदर्श अपनाना चाहिए।

श्रावक को धर्म आराधना के लिए जो तीन मनोरथ करने योग्य हैं; उनमें एक मनोरथ ऐसा है कि:—

"कया णं अहं मुंडे भवित्ता आगाराउ अणगारियं पव्वइस्सामि !"

"कभी मैं मुंड़ होकर अगार याने गृहवास छोड़कर अणगारता को स्वीकार करूँगा।"

तथा यह भी विधान है कि श्रावक आठ वर्ष की आयु के बाद श्रमण बनने में जितना विलम्ब करता है उतना उसे अपने को छला गया मानना चाहिए।

श्री उत्तराध्यन सूत्र के पांचवे अध्ययन में **'भिक्खुए वा गिहित्थे वा सुव्वए कम्मई दिवं'** ऐसा एक पाठ आता है। उसका आधार ले कर कई लोग बताते हैं कि "गृहस्थ भी यदि सुव्रत का पालन कर अच्छा चारित्र रखता हैं तो वह दिव्यगति पा सकता है। तो श्रमणपन को स्वीकार क्यों करना चाहिए?" हमारा उन लोगों से यही कहना है कि उसी अध्ययन में आगल पर कहे गए निम्न शब्दों पर ठीक विचार करें:—

"गारहत्थेहिं सव्वेहिं साहवो संजमुत्तरा" सर्व प्रकार के गृहस्थो की अपेक्षा साधु संयम में आगे हैं। सारांश कि एक गृहस्थ गृह में रह कर चाहे कितनी भी संयम की आराधना क्यों न करे परन्तु वह श्रमण की तुलना नहीं कर सकता है।

यहां एक प्रश्न उठने का संभव है कि "यदि गृहस्थ—जीवन

में रह कर मुक्तिपर्यंत की साधना न हो सकती हो तो श्री प्रज्ञापना सूत्र के प्रथम पद में पंद्रह भेद सिद्धों का वर्णन करते हुए **'गिहिलिंग सिद्ध'** अर्थात् गृहस्थ के वेष में सिद्ध हुए हो, ऐसा पाठ क्यों दिया जाता है?" उसका उत्तर है कि सिद्ध होने का आधार कर्म के नाश के बल पर है। और ऐसा कर्मनाश गृहस्थ वेष में होने पर भी कभी कभी हो जाता है। परन्तु वह भी श्रमणत्व की आंतरिक दशा अर्थात् संसार के सर्वसंग के त्याग के आंतरिक भाव सिद्ध करने से ही हो सकता है। और ऐसा भाव प्रायः पूर्व जन्म में किये गए श्रमणत्व के पालन पर क्वचित् किसीको उत्थित होता है। अतः उसकी गणना सिद्ध के पंद्रह भेद में की गई है। परन्तु वह मुक्ति का राजमार्ग नहीं है। मुक्ति का राजमार्ग तो है श्रमण जीवन व्यतीत कर के कर्मक्षय करना। यदि गृहस्थ जीवन मुक्ति का राजमार्ग होता तो किसी भी तीर्थंकर को गृहस्थ जीवन का त्याग करके श्रमणावस्था को ग्रहण करने की आवश्यकता ही न रहती। परन्तु सभी तीर्थंकरों ने गृहस्थ–जीवन का त्याग कर के श्रमणावस्था स्वीकार की है। इसलिए यह सिद्ध होता है कि केवल श्रमणावस्था ही मुक्ति का राजमार्ग है।

श्रामण्य स्वीकार करनेके पीछे जो विचारधाराएँ काम कर रही हैं, उनका कुछ ख्याल श्री उत्तराध्ययन सूत्र में उल्लिखित निम्न शब्दों से आता है।

कामभोग क्षणमात्र के लिए सुख और दीर्घकालीन दुःख देने वाले हैं। जिस चीज में बहुत दुःख हो; उसे सुखकर कैसे माना जाय?

अतः कामभोग ये संसार में से मुक्ति पाने के मार्ग के अवरोधक हैं और एकांत अनर्थ की खान हैं।

विषयसुख के लिए इधर उधर भ्रमण करनेवाला जीव कामभोग से सर्वदा रात्रि–दिवस जलता ही रहता है। और कामभोग में आसक्त जीव दूसरे के लिए दूषित प्रवृत्ति करनेवाला होता है, और धनादि साधनों की खोज में अंत में बुढापे से घिर जाता है और मृत्यु की शरण हो जाता है।

यह (सुवर्ण, घरबार इत्यादि) मेरा है और यह मेरा नहीं है, यह मैंने किया और यह मैंने नहीं किया, इस प्रकार चिल्लानेवाले प्राणी के आयुष्य की चोरी रात्रि और दिवस रूपी चोर कर रहे हैं। अतः प्रमाद क्यों करें? जल्दी ही, बिना विलम्ब संसार के कामभोगपूर्ण जीवन को छोड़कर प्रशस्त श्रामण्य स्वीकार करना चाहिए।

कई लोग कहते हैं कि इस प्रकार वैराग्य–भावना से ग्रहण किया गया श्रमण–जीवन उत्तम है। परन्तु सभी गृहस्थ श्रमण हो जायें तो समाज का क्या होगा? यानी समाज टूट जायेगा। अतः उस पर कोई नियंत्रण या मर्यादा होनी आवश्यक है। इस विधान के बारे में हमारा स्पष्ट अभिप्राय है कि वह एक प्रकार का कुतर्क है। अर्थात् वह महत्त्वहीन है नगण्य है। श्रमण बनने की भावना रखना और विधिवत् दीक्षा ग्रहण करना, इन दोनों में बहुत बड़ा अंतर है। अतः सभी गृहस्थ श्रमण बनने की भावना रखते हों, फिर भी एक ही समय पर वह सभी श्रमण बने ऐसा कभी बना नहीं है और बन सकेगा भी नहीं। इतना ही नहीं लेकिन श्रमण बनने की उत्कट इच्छा भी सभी को कहां होती है? वह इच्छा तो उसे ही होती है, जिसका मन संसार से समूचा उठ गया हो और इससे किसी भी प्रकार के कामभोग में आनन्द आता न हो। ऐसी स्थिति समाज

में बहुत कम व्यक्तियों में होती है। उनमें भी श्रमण बनने की शक्ति और योग बहुत कम लोगों में होता है। श्रामण्य स्वीकार करनेवालों की संख्या बहुत अल्प होती है। अतः उस पर मर्यादा या नियंत्रण डालने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है।

यहाँ यह स्पष्ट करना जरूरी है कि यदि श्रमणजीवन उत्तम है तो उसका स्वीकार भी अधिक से अधिक मनुष्य करें; यही इष्ट है। भूतकाल में श्री कृष्णवासुदेव, संप्रति महाराजा और कुमारपाल भूपाल इत्यादि अनेक महानुभावों ने इसी कारण श्रमण जीवन को भारी महत्त्व दिया और इस प्रकार प्रबल पुण्यराशि उपार्जन कर के अपना जीवन सार्थक किया है। इस प्रकार भारी प्रोत्साहन दिये जाने वाले समय में भी समाज के अमूक व्यक्तियों ने ही श्रामण्य स्वीकार किया था। अतः सभी व्यक्तियों के श्रमण बन जाने की बात आकाश के बाग में से सभी फूल छूटे जाने की बात के समान निरर्थक है।

श्रमण अधिक हों तो समाज पर एक तरह का बोझ बढ़ेगा, क्योंकि उनको वस्त्र, पात्र और भिक्षा तो समाज से ही पाना है। यह विचार भी कई स्थानों पर उठा है। परन्तु वह विचार अर्थहीन है। जैन श्रमण किसी पर कर डालकर या कर्तव्य बताकर अपने वस्त्र, पात्र या भिक्षा पाते नहीं हैं। परन्तु जो अपनी स्वेच्छा से उन चीजों को बहोराते हैं, ससत्कार दान करते हैं, उनसे ही ग्रहण करते हैं। अतः समाज पर बोझ बढने की भी उनसे कोई संभावना नहीं है। पाठक आगे भिक्षा इत्यादि नियमों को देखेंगे तो पता चलेगा कि जैन श्रमण किसी को भी भाररूप हुए बिना सहज भाव से प्राप्त होनेवाली वस्तुओं पर ही

अपना निर्वाह करते हैं। अतः उनके लिए इस प्रकार का भ्रम रखना निरर्थक है। दूसरी ओर वे मानवता, नीति, संयम, सदाचार, अहिंसा, सत्य, त्याग, परोपकार, इत्यादि उत्तम सिद्धांतों का प्रचार कर के समाज के अनिष्ट तत्त्वों को दूर कर नैतिक स्तर बढाने में और दुःखित जीवों को सहायभूत बनने में कितना महान योग देते हैं, उस ओर बिलकुल उपेक्षा नहीं की जा सकती है। श्रमण जीवन की कई मूल्यवती उपयोगिता पर आगे चर्चा करेंगे।

: ६ :

श्रामण्य किसे दिया जाय ?

श्रमण संघ में सम्मिलित होने के लिए विधिपूर्वक प्रव्रज्या या दीक्षा लेना आवश्यक है। ऐसी दीक्षा हरएक को दी नहीं जा सकती है। परन्तु योग्यतावाले स्त्री-पुरुषों को ही दी जाती है। इस बारे में श्री हरिभद्रसूरि ने धर्मबिन्दु के चतुर्थ अध्याय में कहा है कि "**अर्हः अर्हसमीपे विधिप्रव्रजितो यतिरिति**" जो प्रव्रज्या ग्रहण करने का अधिकारी हो और अधिकारी गुरुके समीप जा कर विधिपूर्वक प्रव्रजित हुआ हो, उसे यति, अर्थात् साधु या श्रमण कहा जाता है।

संसार से दूर जाने की क्रिया को अथवा प्रकृष्ट ऐसे चारित्र-योग की ओर गमन करने की क्रिया को प्रव्रज्या कहा जाता है। उसमें व्रत स्वीकार इत्यादि विधि होती है। अतः वह दीक्षा भी कही जाती है।

जैन शास्त्रकारों ने दीक्षा लेने की योग्यता के बारे में सूक्ष्म विवेचन किया है। जिसका सार यह है कि जो व्यक्ति

आर्य देश में पैदा हुआ हो, विशिष्ट अनिंद्य जाति–कुल सम्पन्न हो, खून, चौरी न करनेवाला हो, संसार की असारता को समझनेवाला हो, वैराग्यवान हो, शांत प्रकृतिवाला हो, झगड़ाखोर न हो, इमानदार हो, नम्र हो, राज्यविरोधी न हो, राष्ट्र और समाज के विशाल हितों के बाधक न हो, शरीर से किसी प्रकार की क्षतिवाला न हो, त्याग–धर्म और दृढ़ श्रद्धावाला हो, प्रतिज्ञा–पालन में अड़िग हो और मोक्ष की अभिलाषा से आत्म–कल्याण के लिए दीक्षा लेने उद्यत हो, उसे ही दीक्षा के लिए योग्य माना जाता है।

यहाँ यह स्पष्टीकरण आवश्यक है कि ये गुण उत्कट योग्यता को लक्ष कर वर्णित किए गए हैं। अतः इससे कम गुणवाला भी श्रामण्य लेने का अधिकारी माना जाता है। इसलिए महामहोपाध्याय श्री मानविजयजीगणि धर्मसंग्रह में बताते हैं कि **"पादार्द्धगुणहीनौ च योग्यो तौ मध्यमावरौ"** जो एक चौथाई गुणों से हीन हो वह मध्यम योग्यता-वाला है और जो आधे गुणों से हीन हो, वह जघन्य योग्यतावाला माना जाता है। इसलिए वे श्री हरिभद्रसूरि–विरचित 'पंचवस्तु' नामक प्रकरण ग्रंथ का आधार ले कर बताते हैं कि:–

काल–परिहाणि दोसा, एत्तो एकाइगुण विहीणो वि।
जे बहुगुणसंपन्ना, ते जोग्गा हुंति नायव्वा ॥

काल–परिहाणी दोष से उपर कहे अनुसार सोलह और पंद्रह गुणों की उपेक्षा एक या दो गुण कम होने पर भी, जो आत्मा बहु गुण वाली हो, वह प्रव्रज्या के लिए योग्य है।

इस विषय की अधिक स्पष्टता करते हुए वे बताते हैं कि :—

"इति द्वितीयपदे प्रव्रज्यार्हत्वमुक्तम् । अतएव देशविरतानामिव यथाभद्रकानामपि कतिपयगुणवतां संयमनिर्वाह—योग्यतां परिज्ञाय प्रव्रज्यादानं कुर्वन्ते गीतार्थाः । तच्च तत्तद्गुणवतामुत्तरोत्तरगुणहेतुतया परिणमति अव्युत्पन्नदशायां च सदनुष्ठानरागमात्रेण धर्ममात्रहेतुतया पर्यवस्यति"

इस प्रकार दीक्षा की अपवाद स्वरूप उचितता बताई गई है इसी कारण से देशविरति (श्रावक के व्रत) को धारण करने वालों की तरह कुछ गुणवाले यथाभद्रक आत्माओंको भी उनमें संयम का निर्वाह करने की योग्यता मानकर गीतार्थ दीक्षा का दान करते हैं । वह दीक्षा का दान उन गुणवाले आत्माओं को तो क्रमशः उच्च उच्च गुणों का हेतु बन शुभ अध्यवसाय (आत्मपरिणाम) का पालन करता है और अव्युत्पन्न दशा में सुन्दर अनुष्ठान के रागमात्र से किया जाता पालन धर्म मात्र की उत्पत्ति में फलित होता है और गुणस्थानप्रापक शुभ परिणाम को उदीरित करता है ।

न्यायविशारद, न्यायाचार्य श्रीमद् यशोविजयजी उपाध्याय अपने अध्यात्मसार नामक ग्रंथमें बताते हैं कि:—

यो बुद्ध्वा भवनैर्गुण्यं, धीरः स्याद् व्रतपालने ।
स योग्यो, भावभेदस्तु दुर्लक्ष्यो नोपयुज्यते ॥

जो मनुष्य संसार की असारता को समझकर महाव्रतों के पालन में धीर बना हो, वह श्रामण्य के लिए योग्य है । उसका आंतरिक

विशिष्ट भाव ज्ञात करना कठिन है। अतः उसे ज्ञात करने की बात पर आधार रखना बेकार है।

: ७ :

श्रामण्य किसको नहीं दिया जाता ?

जैन श्रमण संघ में आठ वर्ष से कम उम्रवाले को, साठ या सत्तर वर्ष से अधिक उम्रवाले वृद्ध को, स्थूल को, व्याधिग्रस्त को, चोर को, राजापकारी को, उन्मत्त याने पागल को, खरीदे गए दास या गुलाम को, बहुत कषाय करनेवाले को, बार बार विषयभोग की इच्छा करनेवाले को, मूढ़ को, ऋणार्त (जिसके शिर पर बहुत ऋण हो गया हो) को, जाति, कर्म तथा शरीर से दूषित को, पैसों की लालच को लेकर आनेवाले को, भगाकर लाये गये को,—इतनें को दीक्षा नहीं दी जाती। दीक्षा लेने वाला १६ वर्ष की आयु से कम आयु का हो तो उसके मातापिता या अभिभावक की अनुमति बिना दीक्षा नहीं दी जाती। स्त्री सगर्भा हो या बालक स्तनपान करता हो तो, उसे भी दीक्षा नहीं दी जाती।

बाल दीक्षा के बारे में कुछ विचारणा

पुरुष को जन्म से आठ वर्ष तक बालक माना जाता है। ऐसे बालक को दीक्षा देना योग्य नहीं है। इस विषय में प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि 'एएसि वयप्पमाणं अट्ठ समाउत्ति वीयरागेहिं। भणियं जहन्नगं खलु,—दीक्षा लेनेवाले पुरुषों की आयु का प्रमाण श्री वीतराग प्रभुने जघन्यपन से निश्चय आठ वर्ष का बताया है। तात्पर्य कि

आठ वर्ष से कम आयु का पुरुष दीक्षा लेने के लिए योग्य नहीं है।

निशीथचूर्णि में भी कहा है कि 'आदेसेण वा गब्भट्ठमस्स दिक्खति—अर्थात् दूसरे विकल्प से, गर्भ से आठ वर्ष की आयुवाले को दीक्षा दी जाय, परन्तु कम आयु वालों को दीक्षा न दी जाय।

उस के कारण 'पंचवस्तु' नामक ग्रंथ में दस प्रकार बताए हैं:—

तदधो परिभवखेत्तं, न चरणभावो वि पायमेएसिं।
आहच्च भाव कहग, सुत्त पुण होइ नायव्वं॥

आठ वर्ष के भीतर वर्तनेवाला पुरुष पराभव का क्षेत्र होता है। लोग उसे बालक मानकर उसका पराभव करते हैं। और आठ वर्ष से कम आयुवाले पुरुष को प्रायः चारित्र का परिणाम भी हो सकता नहीं हैं। यहां कोई कह सकता है कि 'वज्र स्वामी के लिए ऐसा नियम कहाँ रहा है? शास्त्रो में ऐसा सूत्र दिखाई देता है कि **"छम्मासियं छसुजयं माऊए समन्नियं वंदे—"** छःमास के, छः जीवनिकाय की रक्षा करने वाले और माता द्वारा अर्पण किए गए ऐसे वज्र स्वामी को मैं वंदन करता हूँ।' उसके उत्तर में यहाँ कहा गया है कि वज्र स्वामी के लिए यह जो सूत्र है, वह कदाचित्—भाव को बताता है। अतः ऐसी घटना क्वचित् ही घटती है। सर्वदा नहीं। यहां प्रासंगिक यह स्पष्टता आवश्यक होगी कि श्री वज्रस्वामी के सिवाय भी कई आचार्यों को आठ वर्ष की आयु के पहले दीक्षा दी गई है। जैसे कि:—

गच्छ	नाम	जन्मसंवत्	दीक्षासंवत्	वय
१ तपा	श्री विजयक्षमा सूरि	१७३२	१७३९	७
२ अंचल	श्री गुणनिधानसूरि	१५४८	१५५२	४
३ लघुमौशालिक	श्री सोमविमलसूरि	१५७०	१५७४	४
४ ,,	श्री आनन्दसोमसूरि	१५९७	१६०१	४
५ खरतर	श्री जिनचंद्रसूरि	१४४७	१५५२	५
६ तपा	श्री आनन्दविमलसूरि	१५४७	१५५२	५
७ खरतर	श्री जिनचंद्रसूरि	११९७	१२०३	६
८ ,,	,, ,,	१३२६	१३३२	६
९ तपा	श्री रत्नशेखरसूरि	१४५७	१४६३	६
१० ,,	श्री लक्ष्मीसागरसूरि	१४६४	१४७०	६
११ अंचल	श्री सिद्धांतसागरसूरि	१५०६	१५१२	६
१२ तपा	श्री विजयरत्नसूरि	१७११	१७१७	६
१३ खरतर	श्री जिनविजयसूरि	१७४७	१७५३	६
१४ अंचल	श्री देवेन्द्रसिंहसूरि	१२९९	१३०६	७
१५ ,,	श्री सिंहतिलकसूरि	१३४५	१३५२	७
१६ तपा	श्री मुनिसुंदरसूरि	१४३६	१४४३	७
१७ लघुमौशालिक	श्री हेमसोमसूरि	१६२३	१६३०	७

परन्तु ऐसी दीक्षाओं को अपवाद स्वरूप मानना है। किस परिस्थिति में दीक्षा दी जाती है, उसकी स्पष्टता पंचकल्प भाष्य में इस प्रकार दी गई है।

" जिस का सारा परिवार दीक्षा लेने के लिए तैयार हो, परन्तु एक बालक के कारण रुक जाना पड़ता हो और अपने सम्बन्धी के यहाँ बालक को रखने की इच्छा न हो अथवा सम्बन्धी बालक को रखने के लिए तैयार न हो, तो बालक सहित दीक्षा दी जा सकती है। सारा परिवार मर गया हो और उसकी देखभाल करनेवाला कोई न हो तो बालक को दीक्षा दी जाय। आठ वर्ष से कम आयुवाले बालक को दीक्षा न देने के विशेष कारण देते हुए शास्त्रकारों ने कहा है कि जैसे लोहे का गोला इधर उधर लढ़क जाता है, वैसे ही बालसाधु भी इधर-उधर के वातावरण से प्रभावित हो जाते हैं, या इधर उधर संचरण करते हैं और इससे उनके द्वारा छःकाय के जीवों का वध हो जाता है। तथा ऐसे बालक को स्वच्छंद गमन रूप सुख को नष्ट करनेवाली दीक्षा देने से लोक में निंदा भी होती है और माता और धात्रियों की तरह यदि मुनि परिचर्या करना शुरू करेंगे तो उनके स्वाध्याय में दखल होगी। अतः आठ वर्ष से कम आयुवाले बालक को दीक्षा नहीं देनी चाहिए।

कई लोग कहते है कि 'मनुष्य के जीवन के शुरू के पच्चीस वर्षतक ब्रह्मचर्याश्रम का सेवन करना चाहिये अर्थात् ब्रह्मचर्य धारण करके गुरु समीप रहकर विद्याध्ययन करना चाहिए। उसके बाद २५ बर्ष तक गृहस्थाश्रम का सेवन करना चाहिए याने योग्य पत्नी से विवाहित होकर अपने वंश को बढानेवाली संतति पैदा करनी चाहिए। गृहस्थाश्रम के बाद २५ वर्ष तक वानप्रस्थाश्रम का सेवन करना चाहिए अर्थात् अपने शिर पर से संसार—व्यवहार का बोझ उतार कर सत्संग, धर्म,

सामाजिक सेवा, आदि में अपना समय लगाना चाहिए। तथा जीवन के अंतिम २५ वर्ष में संन्यासाश्रम का सेवन करना चाहिए अर्थात् संसार के सभी सम्बन्धों का त्याग करके संन्यासी, साधु या परिव्राजक बनना चाहिए। ऐसा जीवन व्यतीत करने से इसलोक का और पारलौकिक कल्याण सिद्ध किया जा सकता है। इसलिये अल्प आयु में संसार का त्याग कर के दीक्षा लेना उचित नहीं है।

इस कथन के समर्थन में वास्तविकता का विचार नहीं करने वालों की ओर से बहुत कुछ–कहा गया है और लिखा गया है। अतः लोगों पर सामान्य संस्कार पडे हैं कि यह कथन उचित है और मनुष्य को उसके अनुसार बरतना चाहिए। परन्तु यह वास्तविक नहीं है। प्रथम तो यह विधान ही गलत है कि मनुष्य सौ वर्ष तक जीवित रहेगा। क्योंकि सभी मनुष्य सौ वर्ष तक जीवित नहीं रहते। आयुष्य का दोर कब तूटता है, उसका किसीको पता नहीं लगता। कोई कोई तो बाल्यावस्था में ही मृत्यु पाते हैं। केाई कुमारावस्था में ही काल के ग्रास बनते हैं और केाई युवान वय में उठ जाते हैं। तब सभी लोग आश्रम–व्यवस्था के अनुसार अपना जीवन कैसे व्यतीत करेंगे? आज तो आयुष्य की सरसरी मर्यादा ४५–५० से अधिक नहीं है। अतः आश्रम–व्यवस्था केा माननेवाले वानप्रस्थ या संन्यासी–साधु शायद हो ही नहीं सकेंगे। इससे संसार तो भोगा जा सकेगा परन्तु इस उत्तम योग–उपयेागी मानव जीवन में ईश्वरोपासना, योग–अध्ययन या आत्मदर्शन के लिए विशिष्ट पुरुषार्थ करने का अवसर ही नहीं मिलेगा। ऐसी परिस्थिति में मनुष्यभव व्यर्थ ही जायेगा। क्योंकि मनुष्य जीवन का

मुख्य उद्देश्य विलासिता नहीं परन्तु सर्व मोहके नाशपूर्वक ज्ञानादि कैवल्य प्राप्त करके संसार–सागर पार करना है। कहा है कि :––

महता पुण्येपण्येन, क्रीतेयं कायनौस्त्वया।
पारं भवोदधेर्गन्तुं, त्वर यावन्न भिद्यते॥

पुण्यस्वरूप बहुत–सा मूल्य चुकाकर तूने यह शरीरस्वरूप नौका खरीद की है। अतः उसके विनाश के पहले उसके द्वारा भवसागर पार करने की त्वरा कर।

और यह भी कहा गया है कि :––

संपदो जलतरङ्गविलोला, यौवनं त्रिचतुरा विनश्वरम्।
शारदाभ्रमिव चञ्चलमायुः, किं धनैः? कुरुत धर्ममनिशम्॥

संपत्ति जल के तरंग की तरह चंचल है। यौवन तीन–चार दीनों की चांदनी है। आयुष्य शरद् ऋतु की तरह क्षणिक है। अतः धन कमाने से क्या होगा? इस लिए पवित्र धर्म को आचार में रख।

परन्तु प्रमादी–पापी–मनुष्य यह हित–शिक्षा को ध्यान में कहाँ लेता है? वह बाल्यावस्था खेलने में व्यतीत करता है, युवावस्था भोग–विलास में प्रसार करता है और वृद्धावस्था अनेक प्रकार की चिंताओं में पूरी करता है। इस प्रकार मनुष्य–जीवन,–कि जो बहुत लम्बे समय के बाद लम्बे परिश्रम से महान उद्देश्य की पूर्तिके लिए प्राप्त हुआ है,–उसका परिणाम शून्य पर पहुँच जाता है।

इस लिये ज्ञानियों को कहना पड़ा है कि:––

'**दुल्लहलंभं**' बहुत परिश्रम से प्राप्त हो सके ऐसा,

और **'विज्जुलया चंचलं'** विद्युत की तरह चंचल,
'माणुसत्तं लद्धूणं' मनुष्य जीवन पाकर, **'जो पमायए'**
जो आदमी उसका सदुपयोग करने में लापरवाह रहता है **'सो कापुरुषो'** वह कापुरुष है, निर्बल है। परन्तु **'न सप्पुरिसो'** वह सत् पुरुष, सज्जन नहीं है।

और उस कायरता, प्रमाद नष्ट करने के लिए कहना पड़ा है कि:—

उत्थायोत्थाय बोद्धव्यं, किमद्य सुकृतं कृतम् ?।
आयुषः खण्डमादाय, रविरस्तमयं गतः ॥

हे मनुष्यो ! तुम निंद में से उठ उठकर याने मूढता में से सावध होकर विचार करो।

'आयुष्य का एक टुकडा लेकर सूर्य अस्ताचल के समीप गया इतने समय में मैंने क्या सुकृत किया ?'

फिर भी मनुष्य अपने प्रमाद को दूर नहीं करता है और धर्म के मार्ग पर त्वरित गति से नहीं जाता है तो उसके कान खोलने के लिये कहा है कि :—

मा सुअह जग्गिअव्वे, पलाइअव्वंमि कीस वीसमह ?।
तिन्नि जणा अणु लग्गा. रोगो अ जरा य मच्चू अ ॥

हे मनुष्य ! तू जगने के समय सो नहीं और पलायन होने के समय रुक नहीं क्योंकि तेरे पीछे रोग, जरा और मृत्यु नामक तीन महान दुश्मन पड़े हुए हैं।

ऐसी परिस्थिति में मनुष्य बाल्यावस्था में ही त्याग के मार्ग पर चलकर अपना तथा दूसरों का कल्याण करे, उसमें अनुचित क्या है ?

यहाँ शायद ऐसा माना जायेगा कि सभी कार्य धीरे से और क्रमशः करने से ही सिद्ध होते हैं। अतः धर्म की आराधना भी धीरे धीरे और क्रमशः करनी चाहिए। अतः प्रथम मार्गानुसरण, (मार्गानुसारी के ३५ बोल के अनुसार वर्तन करने की तालीम) फ़िर सम्यक्त्व (जैनत्व) का व्यवहार और बाद में देशविरति (श्रावक के व्रत) और फ़िर सर्वविरति अर्थात् साधु जीवन की दीक्षा। इस क्रम का अनुसरण किया जाय तो ली गई दीक्षा सफल होती है। परन्तु प्रारंभ से ही सर्वविरति की दीक्षा देना इष्ट नहीं है। उसका उत्तर है कि **'धर्मस्य त्वरिता गतिः'** अन्य कार्य क्रमशः और मंद गति से हों, यह ठीक है, परन्तु धर्म के कार्य में ढील नहीं करनी चाहिए। क्योंकि परिस्थिति कब पल्टा लेगी और मनुष्य की चित्तवृत्तियाँ कब बदल जायेंगी, उसका पता नहीं चलता। एक बार मनुष्य लाख रुपयों का दान करने को तैयार होता है और दूसरी बार सौ रुपये देने को भी तैयार नहीं होता। इसी प्रकार आदमी एक बार पचरंगी (पांच उपवास) अठ्ठई (आठ उपवास) या पक्षखमण (पंद्रह उपवास) करने के लिये उत्साहित होता है तो दूसरी बार अष्टमी, चतुर्दशी का उपवास करने के लिए भी तैयार नहीं होता। अतः अच्छी परिस्थिति का, अच्छे आलम्बनों का और अच्छे निमित्तों का त्वरित सदुपयोग कर लेना चाहिए। जो लोग धीरे धीरे और क्रमशः धर्म की आराधना करना चाहते हैं, उनके लिए ज्ञानी भगवंतों ने ऊपर

लिखा क्रम बतलाया है। परन्तु उसका अर्थ यह नहीं है कि सब को इसी क्रम से आगे बढ़ना चाहिए और वैराग्य से संसारत्याग की दिल की ज्वलंत तमन्ना होने पर भी दीक्षा को स्वीकार न करके संसार में प्रतिबद्ध बने रहना। सारांश कि ऐसा कोई नियम नहीं है कि श्रमण–दीक्षा स्वीकार करने के पूर्व श्रावक के सभी व्रत उसके द्वारा पालित होने चाहिए या मार्गानुसारी गुणो का दीर्घकाल अनुसरण किया होना चाहिए। योग्य गुरुओं द्वारा पहले जो बताया गया है, उसके अनुसार दीक्षा लेने वाले की योग्यता की परीक्षा की जाती है और योग्यता मालूम पड़ने पर दीक्षा दी जाती है। और दीक्षा का कौन अच्छा पालन कर सकेगा और कौन न कर सकेगा, उसका निर्णय वे अपने ज्ञान के अनुसार उसी समय करते हैं और उस निर्णय के पीछे अनुभव का विशाल बल होने के कारण वह निर्णय अधिकांश सही निकलता है।

कोई लोग कहते हैं कि बाल्यावस्था अर्थात् अठारह वर्ष तक की आयु तो केवल खेलने और विद्याध्ययन के ही लिए है। अतः उसको दीक्षा या कड़े व्रत–नियम से बाँधना उचित नहीं है। वह तो उसके ऊपर जुल्म गुजारना है। इसलिए इस प्रकार की दीक्षाएँ हमेशा के लिए बंद कर देनी चाहिएँ और यदि साधु इस बात को स्वीकार न करे तो कानून द्वारा इस पर रोक लगानी चाहिए।

हमारा अनुमान है कि इस मान्यता में तथ्य की अपेक्षा आवेश का प्रभाव अधिक है अतः सुज्ञ जनों के लिए स्वीकार्य हो सकता नहीं है। अठारह वर्ष तककी आयु केवल खेलने और विद्याध्ययन के लिए ही है, ऐसा किस आधार पर कहा जाता है? क्या उस के पीछे,

रोग, जरा, मृत्यु नामक दुश्मन नहीं पड़े हैं ? क्या उसके आयुष्य का एक टुकड़ा लेकर सूर्य प्रतिदिन अस्ताचल के समीप जाता नहीं है ? तो क्या पूर्वजन्म के विशिष्ट संस्कारों से ऐसे बालक विशिष्ट गुणवाले और विकास की शक्ति वाले नहीं होते हैं ? जीवन को यदि एक प्रकार की इमारत माना जाय तो बाल्यावस्था ही उसकी बुनियाद है अतः पूर्व के विशिष्ट संस्कार न हो फिर भी इस बुनियाद की पूर्ति धर्म के संस्कार और धर्म की भावना से मजबूत करनी चाहिए। अन्यथा जीवनरूपी इमारत अनेक बार उठनेवाले कुवासनास्वरूप झंझावतों में खड़ी नहीं रह सकेगी। इसी कारण सुज्ञ पुरुष अपने बालकों को गळथुथी में ही धर्म के संस्कार देते हैं और वे थोड़े समझदार हों कि तुरन्त ही धार्मिक शिक्षण देना शुरू कर के सद्गुरुओं के संग में रखते हैं। तथा दया, सत्य, सज्जनता के उपरांत नवकार मंत्रका स्मरण, नित्य देवदर्शन, अभक्ष्य त्याग, रात्रिभोजन त्याग इत्यादि नियमों से परिचित करते हैं। ऐसे संस्कार तथा तालीम मिलने से कुछ ही समय में एकासण, आयंबिल या उपवास जैसा तप करने के भी अभ्यासवाले बनते हैं और पर्व के दिनों में पौषधादि भी करते हैं। इस प्रकार की तालीम पाये हुए १०–१२ वर्ष के बालकों ने उपधान–तप जैसी कठोर तपश्चर्या भी की है। दूसरी ओर जिन बालकों को माता–पिता की ओर से ऐसी तालीम मिली नहीं है, ऐसे बालकों को एक उपवास, एक आयंबिल, एक एकासण या केवल नवकारसी करने को कहा जाय तो, भी उनके लिए कठिन होगा। जैनों के उपवास, जैनों की तपश्चर्या को देख कर आज हजारों लोग कहते हैं कि 'ऐसे कड़े उपवास कैसे किए जायँ ? उसमें

दूध का भी उपयोग नहीं किया जाता और फलों का भी नहीं। रात को तो पानी भी बिलकुल बंद किया जाता है। बापरे! हम ऐसी कठोर तपश्चर्या करें तो दूसरे दिन खड़े न हो सकें।' परन्तु अनुभव बताता है कि उनका यह भय वास्तविक नहीं है। वे भी आदती हो जायें तो ऐसी तपश्चर्या सुखपूर्वक कर सकते हैं।

यही चीज दीक्षा लेनेवालों को भी समझ लेनी चाहिए। उस के व्रत–नियम बाहर बहुतसे कठिन दिखाई देते हैं, परन्तु एक वार आदमी उन से आदती हो जाता है तो फिर उसे कठिन नहीं लगते। जिन्हों ने जीवन के प्रारंभ से ही त्याग और तप की तालीम ली है, उन के लिए तो वे सरल हैं।

व्रत और नियम एक प्रकार से नियंत्रण तो हैं ही परन्तु उन का स्वेच्छा से स्वीकार किया गया है, अतः त्रासरूप नहीं होता। बीस-बीस तौले के चांदी के कड़ले पैर में डालने वाली ललनाओं से पूछिए कि उनसे तुम्हें त्रास होता है? या किसी तपस्वी से पूछें कि प्रातः से शाम तक किसी प्रकार का भोजन नहीं किया है तो क्या कोई त्रास होता है? हमारा विश्वास है और मान्यता है कि इन दोनों प्रश्नों के उत्तर 'ना' में मिलेंगे। उतना ही नहीं परन्तु वह ललितांगी ललना और तपस्वी कहेंगे कि उस में उसे बड़ा आनन्द मिलता है। क्योंकि दोनों चीज़ों का स्वीकार उन्होंने अपनी इच्छा से किया है। और उन्हें विश्वास है कि वे उनके लिए हितकर हैं। दूसरी ओर एक महिला को उतने ही वजन की लोहे की एक जंजीर पहनाई जाय और उसे ज्ञात होगा कि उसे कैदखाने में जाना पड़ेगा तो उस के मन की स्थिति क्या

होगी? वह रो उठेगी, चिल्लाएगी और अपने सगे सम्बंधियों से विनय करेगी, कृपा कर के मुझे इस बन्धन से मुक्त कराओ। इसी प्रकार एक पुरुष को प्रातः से सामं तक भूखा रहने को विवश किया गया हो तो? अरे! भोजन में केवल दो घण्टे की देरी होती है तो भी उसके गुस्से की सीमा नहीं रहती। इसलिए वह लड़ेगा, झगड़ा करेगा और संभव होगा तो पीटेगा भी। इस स्थिति को हम त्रासरूप कह सकते हैं और किसी को जबरदस्ती से इस स्थिति में डालें तो यह कहा जा सकता है कि उस-पर जुल्म किया गया। परन्तु जिस स्थिति का याने जिन व्रत नियमों का वह स्वयं स्वेच्छा से स्वीकार करता है और जिस में उसे आनन्द मिलता है; वहां त्रास या जुल्म की कल्पना करना, वह सत्य का खून करने जैसी बात है। आज भारत में अनेक बाल–दीक्षित विद्यमान हैं। उनसे पूछिये कि इन व्रत–नियमों को स्वीकार करने से क्या आपको कोई त्रास होता है? या आप लोगों पर कोई जुल्म किया गया हो, ऐसा लगता है? उसका उत्तर ना में मिलेगा। तो फिर यह शब्दछल और चिल्लाहट क्यों? क्या ऐसे कल्पित कारणों को ले कर सर्व दुःखों से मुक्ति दिलाने वाली भागवती दीक्षा पर रोक लगाना उचित है? हम तो आगे बढ़ कर यह भी कहते हैं कि प्रत्येक पुरुष को अपनी मान्यता के अनुसार धर्म मानने का आचार में रखने का और प्रचार करने का अबाधित अधिकार है। उसे हम कैसे रोक सकते हैं? और इस प्रकार यदि किसी की दीक्षा को रोक सकेंगे तो उस व्यक्ति को मानसिक त्रास देंगे और यह सिद्ध होगा कि हमने उसपर जुल्म किया। अतः इस प्रकार की बातों से सुज्ञपुरुषों को आकृष्ट न होते हुए अपनी बुद्धि को ठीक स्थान पर

रखकर सत्यासत्य का निर्णय करना चाहिए।

इतनी विचारणा के बाद हम आश्रम व्यवस्था को लें और उसके बाद में और स्पष्टता करें। एक समय इस देश में आश्रम व्यवस्था कार्यान्वित थी परन्तु पिछले कई वर्षों से वह कार्यान्वय में कहाँ है? आज तो वह मृतप्रायः हो गई है। गुरु समीप जा कर २५ वर्ष तक विद्याध्ययन कौन करता है? कई तो १६, १८या २० वर्ष की उम्र में ही लग्न कर के संसार शुरू करते हैं। और कोई भी धन्धा लेकर अपना गुजारा करते हैं। फिर ५० वर्ष की उम्र में वानप्रस्थ होने वाले कितने लोग हैं? अधिकांश लोग जीवन के अंतिम श्वास तक संसार के कार्य–कलापों में फँसे हुए होते हैं और जब मृत्यु समीप आ कर खड़ी होती है तब "हा! हा!" हमने जीवन में कई इच्छाएँ कीं परन्तु कुछ न कर पाये!" ऐसा खेद करते हुए उसकी शरण में चले जाते हैं। अतः आश्रम–व्यवस्था की ओट में लघु वय में दी जाती दीक्षा का निषेध करना वह किसी भी तरह से उपयुक्त नहीं है।

संसार की सभी परिस्थितियों का ख्याल करके ही ऋषि–मुनियों ने ये शब्द कहे हैं कि:–**"यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्"** जिस दिन वैराग्य हो; उसी दिन दीक्षा लेनी चाहिए।

कई लोग कहते हैं कि आठ वर्ष के अन्दर के पुरुषों को दीक्षा दी जाती नहीं है; वह योग्य है। परन्तु आठ से अठारह वर्ष की आयु के पुरुष भी वास्तव में बालक ही है। क्योंकि इस अवस्था में वे अपने हिताहित का विचार कर सकते नहीं हैं। सरकारी कानूनने भी अठारह वर्ष की आयु को ही संमति वय माना है। अतः अठारह वर्ष से

कम आयु वालों को भी दीक्षा के लिए अनधिकारी मानना चाहिए।

'आठ से अठारह वर्ष की आयुवाले पुरुष अपने हिताहित का विचार कर सकते नहीं हैं,' यह कथन ठीक होने पर भी सर्वांश से सत्य नहीं है। क्योंकि इस अवस्था में भी कई पुरुषोंने अपनी बुद्धि व शक्ति का परिचय दिया है कि जो बड़ी उम्रवाले पुरुष दे सकते नहीं हैं। **ध्रुवने** इसी अवस्था में कठोर तपश्चर्या की थी। **प्रह्लादने** इसी अवस्था में ही परम प्रभुभक्ति का परिचय दिया था। **श्रीमत् शंकराचार्यने** इस अवस्था में ही अप्रतिम बुद्धि का परिचय देकर संन्यास-मार्ग ग्रहण किया था। **श्री हेमचंद्राचार्यने** इसी अवस्था में अनेक शास्त्रों का अध्ययन करके प्रकाण्ड विद्वत्ता प्राप्त की थी। **नामदेवने** इस अवस्था में ही दृढ संकल्प कर के **विठोबा को** दूध पिलाया था। **श्रीमद् राजचंद्र** ने इसी अवस्था में शतावधान के प्रयोग करके जनता को आश्चर्य चकित कर दिया था। **शहनशाह अकबर ने** इसी अवस्था में विशाल सल्तनत का कारोबार संभाल लिया और सफलतापूर्वक उसका संचालन भी किया था। तथा सुप्रसिद्ध लेखकों, कवियों तथा चित्रकारों के जीवन पर दृष्टि डालेंगे तो पता लगेगा कि उन्होंने इसी अवस्था में अपनी नैसर्गिक शक्ति का परिचय विश्व को देना शुरू किया था। और क्रमशः विकास कर के अंत में परमयश के अधिकारी बने थे। अतः इस अवस्था में भी अनेक पुरुष अपने हिताहित की परिस्थिति समझ सकते हैं। और पूर्व जन्म के संस्कारों को लेकर जीवन के किसी न किसी क्षेत्रमें अपनी शक्ति से असाधारण रूपसे चमक उठते हैं। ऐसे पुरुष स्वभावतः वैराग्य, भलाई, त्याग, योगाध्ययन या ईश्वरोपासन के

प्रति रुचि रखते हैं। ऐसे व्यक्तियों को दीक्षा के लिये पात्र समझ कर दीक्षा देना अनुचित नहीं है।

इस विषय में एक महानुभाव के नीचे लिखे शब्द ध्यान में लेने योग्य हैं।

"विश्व के व्यवहार में दीवानी कानून ने १८ वर्ष की आयु वाले व्यक्ति को पैसे की लेनदेन के लिए योग्य समझ वाला माना है। परंतु उसका अर्थ यह नहीं है कि तब तक मनुष्य में अन्य समझ का अभाव होता है क्योंकि तेरह–चौदह वर्ष की आयु के लड़के तो गुजराती की पढाई करके अंग्रेजी के पाँचवें या छठे दर्जे में पढ़ते हैं। इतनी पढ़ाई करने पर भी यह कल्पना करना कि उसमें भला–बुरा समझने की बिलकुल शक्ति नहीं है; वह सत्य से दूर है। फौजदारी कानून ने तो माना है कि ५–७ वर्ष से अधिक आयुवाला समझने की योग्यता वाला होता है तथा उसे अपराध से दूर रहने का ज्ञान भी प्राप्त होता है। इस मान्यता के अनुसार सजाएँ भी की गई हैं और होती हैं। जैन दीक्षा में तो ८ से १६ वर्ष तक की आयु में दीक्षा लेने के लिए उसके अभिभावक की संमति को आवश्यक माना गया है। अतः दोनों प्रकार से ८ वर्ष से अधिक उम्रवाले को सज्ञान ही माना जा सकता है। दीक्षा अयोग्य है, यह तो कोई भी कह सकता नहीं है और बालक की अज्ञानता का आक्षेप तो किसी भी तरह टिक सकता ही नहीं है।

कोई कहते हैं कि १८ वर्ष तक पढ़ाकर फिर दीक्षा दी जाय तो उसमें क्या आपत्ति है? उसका उत्तर उपर्युक्त कार्यकर्ता के शब्दों में ही सुनिए। वे कहते हैं कि "पढ़ाई की बात वास्तविक नहीं है।

क्यों कि हमारे शास्त्रों की आज्ञा के अनुसार साधु जीवन का स्वीकार करने के बाद भी विहित की गई तपश्चर्यादि क्रियाएँ करने के बाद ही अमुक अमुक शास्त्र पढ़े जा सकते हैं। अतः अदीक्षित बालक पढ़ेगा तो केवल अक्षर ज्ञान प्राप्त कर सकेगा, धर्म का तत्त्वज्ञान तो वह प्राप्त कर सकता नहीं है। फिर आत्मा को मोक्ष प्राप्त करने के लिए केवल ज्ञान ही कारणभूत नहीं है। श्री उमास्वाति महाराज तत्त्वार्थाधिगम सूत्र में कहते हैं कि:—**सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः,** सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र (श्रामण्य) ये तीनों मिलकर मोक्ष प्राप्ति के उपाय हैं। अतः दीक्षा न दी जाय और संस्काररहित रखा जाय तो साधुओं के लिए जो क्रियाएँ हैं उन्हें गृहस्थ तो कर ही नहीं सकता इसलिए वास्तविक ज्ञान और संस्करण मिलता नहीं है; और क्रिया भी हो सकती नहीं है। अतः उभय से वह वंचित रहता है। तदुपरांत वह दीक्षित न होने के कारण सुगुरुओं के संपूर्ण सहवास का कीमती लाभ खोता है। अतः किसी भी बालक को जिस समय उस में दीक्षा लेने की इच्छा प्रकट हो, उसका अभिभावक उस की भावना को देखकर संमति देते हों और गुरु भी योग्य समझते हों तो ऐसे तीनों अनुकूल संयोगों में वह बालक होने के कारण ही उसकी दीक्षा को रोकना, वह बालक के आत्मकल्याण पर कुठाराघात करने के बराबर है।

कई लोग कहते हैं कि पापरहित दीक्षा के लिए वे ही योग्य हैं कि जिन्होंने भोग के लिए योग्य यौवन को पार किया हो। बालक या युवान दीक्षा के लिए योग्य नहीं हैं। क्योंकि बालक जब यौवन वय को पाते हैं, उसे विषयभोग के अपराध होने की संभावना है। और ऐसे

संभवित दोषों का साधुओं को—श्रमणों को परिहार करना चाहिए। परन्तु ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि जिन्हों ने भोगों को अच्छी तरह भोगा है और जिनको योग्य वय समाप्त हो चुकी है, ऐसे ऋषियों के लिए भी संभवित दोष तो समान ही है। लेकिन विषय के संग का अनुभव नहीं करनेवाले ऐसे कई पुरुष विषयसंग की विषमता में फसे न होने के कारण अच्छे ढंग से दीक्षा का पालन कर सकते हैं, और लोगों में सन्देहरहित होकर जगत्पूज्य पद पर बिराजित होते हैं, एवम् अपना हित सिद्ध करने के उपरांत अनेकानेक योग्य आत्माओ को सन्मार्ग के पुजारी बनाते हैं।

हमारा अनुभव हमें कहता है कि जिन्होंने लघु वय से श्रामण्य पाया है, वे अनेक शास्त्रों का क्रमशः तलस्पर्शी अध्ययन करके महाविद्वान बने हैं और प्रारंभ से ही सत्संग के कारण चारित्र शिरोमणि होकर महात्मा के रूप में विश्व में विख्यात हुए हैं। अतः लघुवय में योग्य आत्माओं को गुरुओं द्वारा दिया जाता श्रामण्य अनर्थ की परम्परा उत्पन्न नहीं करता है, परन्तु जीवन का क्रमशः विकास करता है। अतः उसका तो अनुमोदन करना अत्यावश्यक हैं।

इन सभी बातों का विचार कर के शासकवर्ग को बालदीक्षा पर रोक लगानेवाले किसी भी विधेय को स्वीकृत नहीं करना चाहिए। क्यों कि उसमें ही समाज तथा देश का हित रहा हुआ है।

हम सुज्ञ पाठकों का ध्यान इस ओर आकृष्ट करते हैं कि बम्बई राज्यकी ओर से बालदीक्षा विधेय के बारे में सन् १९५५ के आखिर में लोकमत मांगा गया था। उसका परिणाम भयंकर विरोध में आया है। अतः उस विधेय को स्थगित कर लिया गया है।

नौ वर्ष की उम्र में दीक्षा ग्रहण करके अपूर्व विद्वत्ता को लेकर कलिकाल सर्वज्ञकी उपाधि पाने वाले श्री हेमचंद्र-सूरीश्वरजी महाराज से गुर्जरेश्वर कुमारपाल शास्त्र-ग्रंथ लिखवाकर स्थान स्थान पर ग्रंथ-भण्डार प्रस्थापित करने के लिए विनती करते हैं। करीब ७०० लेखक पू० सूरीश्वरजी-रचित ग्रंथ लिख रहे हैं।

: ८ :

अनुज्ञा

[प्रव्रज्या के लिए संमति]

श्री उत्तराध्ययन सूत्र में मृगापुत्र के अधिकार में कहा गया है कि :—

सुयाणि मे पंच महव्वयाणि,
नरएसु दुक्खं च तिरिक्खजोणीसु ।
निविण्णकामो मि महण्णवाओ
अणुजाणह पव्वइस्सामि अम्मो ! ॥

मैंने पाँच महाव्रत सुने हैं । नर्क और तिर्यग् योनि के दुःख सुने हैं । अब संसार रूपी सागर से निवृत्त होने की मुझ में मावना जाग्रत हुई है इसलिए प्रव्रज्या ग्रहण करूँगा । हे माता ! मुझे आज्ञा दीजिए ।

मिगचारियं चरिस्सामि, सव्वदुक्ख–विमोक्खणिं ।
तुब्भेहिं अम्ब ऽणुण्णाओ, गच्छ पुत्त जहा सुहं ॥

हे माता–पिता ! आप दोनों की अनुज्ञा पा कर मैं मृगचर्या अर्थात् श्रमणपन को आचार रखूँगा । प्रव्रज्या सभी दुःखों से मुक्ति देने वाली है । माता–पिता बोले, जाओ, पुत्र ! यथासुख विचरो ।

एवं सो अम्मापियरं, अणुमाणित्ताण बहुविहं ।
ममत्तं छिन्दई ताहे महानागो व्व कंचुयं ॥

इस प्रकार माता पिता को अनुमत करके वह विरागी जीव, महा सर्प जैसे कंचुकी को त्याग देता है वैसे, अनेकविध ममत्व को त्याग देता है।

उसी सूत्र में समुद्रपाल की अणगार–प्रव्रज्या का वर्णन करते हुए बताया है कि:—

संबुद्धो सो तहिं भगवं परमसंवेगमागओ।
आपुच्छऽम्मापियरो पव्वए अणगारियं॥

वे महापुरुष इस प्रकार बोध पाये, परम संवेग अर्थात् ऊत्कृष्ट वैराग्य को प्राप्त हुए और इससे मातापिता से आज्ञा प्राप्त कर अणगार धर्म में प्रव्रजित हुए।

इन शब्दों से यह स्पष्ट होता है कि वैराग्य पाने के बाद दीक्षार्थी का प्रथम कर्तव्य है माता पिता की अनुज्ञा अर्थात् अनुमति या संमति प्राप्त करना। संमति यानी 'ठीक तू दीक्षा ले' ऐसी आज्ञा।

श्री हरिभद्रसूसुरिजी महाराजने धर्मबिन्दु के चतुर्थ प्रकरण में विशेष सूत्र की रचना करके बताया है कि **'तथा–गुरुजनाद्यनुज्ञेति'**। २३॥ (दीक्षार्थी को) मातापितादिकी आज्ञा मांगनी चाहिए। यहाँ आदि शब्द से पुत्र, पत्नी इत्यादि परिवार के शेष सदस्यों को समझना है।

प्रश्न—यह नियम छोटे बड़े सभी की दीक्षाओं को लागू होता है।

उत्तर—'हाँ।'

प्रश्न—श्रामण्य किस को दिया नहीं जा सकता है। इस विषय की चर्चा करते हुए आपने बताया था कि १६ वर्ष की आयु से ऊपर की आयुवालों को तो अनुज्ञा के बिना भी दीक्षा दी जा सकती है। क्योंकि

इससे शिष्य निष्फेटिका दोष लगता नहीं है। यहाँ तो आप अनुज्ञा, अनुमति—संमति की बात सभी के लिए करते हैं; ऐसा क्यों?

उत्तरः—उस प्रसंग पर जो कहा है, वह यथार्थ है। १६ वर्ष से अधिक आयु वालों को अनुज्ञा बिना दीक्षा देने में शिष्य—निष्फेटिका दोष लगता नहीं है। परन्तु उसका अर्थ यह नहीं है के १६ वर्ष से अधिक आयुवाले सबों को बिना अनुज्ञा दीक्षा दी जाती है। और स्पष्ट कहा जाय तो अनुज्ञा पूर्वक दीक्षा देना वही सुविहित क्रम है। राजमार्ग है। आज तक उसका अनुसरण हुआ है। जब अनुज्ञा बिना दीक्षा देना वह अपवाद स्वरूप है। अतः उसका सेवन तो असामान्य परिस्थिति में ही कोई कोई बार हुआ है। ऐसे अवसर पर दीक्षा देने वाले को **शिष्यनिष्फेटिका** दोष लगता नहीं है। यही उस कथन का तथ्य हैं। श्री गौतम स्वामीने किसान को दीक्षा दी तथा श्री संभूति विजय आचार्य ने श्री स्थूलभद्रजी को रास्ते में दीक्षा दी थी; उन घटनाओं को अपवाद समझना है। महापुरुष किसी असाधारण परिस्थिति में निश्चित कदम उठाये तो सामान्य लोगो को उसका अनुकरण नहीं करना है। उन लोगों को तो स्वीकृत नियमों को लेकर ही चलने का है।

प्रश्न—सामान्यतः सभी माता—पिता यही चाहते हैं कि मेरा पुत्र बड़ा हो, पढे—लिखे, अर्थोपार्जन करे, अच्छी स्त्री के साथ विवाह करे, अपना वंश बढाए तथा परिवार की प्रतिष्ठा की रक्षा करे। ऐसी परिस्थिति में वे अपने पुत्र—पुत्रियो को संसार छोड़ने की अनुज्ञा कैसे देंगे?

उत्तर—माता पिता की सामान्यतः ऐसी इच्छा होती है। फिर भी वे अपने पुत्र—पुत्री का कल्याण चाहते हैं। अतः जिस मार्ग से

कल्याण होने का विश्वास होगा; उस मार्ग पर जाने की अनुज्ञा-संमति-अनुमति देंगे। मृगापुत्र को तथा समुद्रपाल को मातापिता ने कैसे अनुमति दी ? आज भी अनेक माता–पिता अपने पुत्र–पुत्रियों को कैसे अनुमति देते हैं ?

प्रश्न—सारी बात को समझने पर भी मोह के प्राबल्य को लेकर अनुज्ञा न दे तो ?

उत्तर—ऐसे अवसर पर वे अनुज्ञा दे, ऐसी युक्ति का विधान भी है। जैसे कि आज मैंने यह स्वप्न देखा कि मैं गधे, ऊँट, भैंसे पर सवार हुआ हूँ। अतः मुझे अपने जीवन का भरोसा नहीं है। मैंने स्वप्न में कई देवियों को रास लेते हुए देखा है। वे मेरे सामने देख कर अट्टहास्य करती थीं। अतः मुझे लगता है कि अब मेरा आयुष्य अल्प है। एक सुविख्यात ज्योतिषी ने मुझे बताया है कि अमुक वर्ष में तुम्हारे लिए योग साधना का योग है,....इत्यादि–इत्यादि। इस प्रकार युक्ति करने में परमार्थ से धर्म साध्य है। अतः उसमें किसी प्रकार का दोष माना नहीं जाता।

प्रश्नः—माता–पिता यह जानने पर भी उसके बिना निर्वाह करने में असमर्थ हों, तो क्या किया जाय ?

उत्तर—ऐसी परिस्थिति में अपनी शक्ति के अनुसार मातापिता आदि कुटुम्बी लोगों के मन का समाधान करने का यत्न करे, निर्वाह के लिए द्रव्यादि का यथाशक्ति प्रबन्ध करे ता कि जिससे बाद में कोई परेशानी न हो। ऐसा करने में कृतकृत्यता होगी। जैन मार्ग की प्रभावना का बीज करुणा है। अतः माता–पिता को खुश कर के उनकी आज्ञा प्राप्त कर दीक्षा लेना इष्ट माना जाता है।

प्रश्नः—जो माता–पिता अपने स्वार्थ के लिए अपने वैराग्य–वासित पुत्र–पुत्री को दीक्षा की अनुज्ञा देने के लिए तैयार न हो तो क्या वे शत्रु नहीं हैं? अध्यात्मकल्पद्रुम नामक ग्रंथ में कहा गया है कि:—

माता पिता स्वः सुगुरुश्च तत्त्वात्
प्रबोध्य यो योजति शुद्धधर्मे।
न तत्समोऽरि क्षिपते भवाब्धौ,
यो धर्मविघ्नादिकृतेश्च जीवम् ॥

वास्तव में माता-पिता, स्वजन, सुगुरु वही हैं, जो अपने पुत्र-पुत्री को धर्म–मार्ग पर लगाते हैं। और जो धर्म के मार्ग में दखल कर के प्राणी को (अपने पुत्र–पुत्रियों को) भवसागर में फेंकते हैं; उनके जैसे अन्य कोई शत्रु नहीं हैं।

उत्तर—ये वचन माता पिता के लिए हितशिक्षा रूप है। अतः उन्हें धर्म की आराधना करनेवाले अपने पुत्र पुत्रियों को कभी रोकना नहीं चाहिए। बल्कि उन को युक्ति से उपदेश दे कर धर्म के मार्ग पर बढ़ाना चाहिए। व्यवहार नीति में कहा गया है कि:—**माता शत्रु पिता वैरी येन बालो न पाठितः**—वह माता शत्रु है, वह पिता वैरी है, जो अपने बालकों को पढ़ाता नहीं है। इन शब्दों का उच्चारण इसी भाव से किया गया है। परन्तु उसका अर्थ यह नहीं है कि उन को शत्रु मान लिया जाय और ऐसा व्यवहार किया जाय। ऐसा करने से तो गृहस्थाश्रम के सामान्य धर्म का लोप होगा और सर्वविरति जैसे एक सर्वोच्च त्याग धर्म की बात करनेवाले के लिए शोभनीय नहीं है।

श्रीमान् हरिभद्रसूरिजीने धर्मबिन्दु में गृहस्थ के सामान्य धर्म का

वर्णन करते हुए बताया है कि **'तथा मातृपितृपूजेति'।१।।३१।।** माता-पिता की पूजा करनी चाहिए, अर्थात् त्रिकाल प्रणाम इत्यादि भक्ति करनी चाहिए। कहा है कि बिना अवसर भी चित्त में ऊच्च प्रकार से आरोपिते किए गए गुरुवर्ग को त्रिकाल प्रणाम करना वह भी उनकी पूजा ही है। यहाँ गुरुवर्ग में किसको माना जाय? उसकी स्पष्टता करते हुए बताया गया है कि

माता पिता कलाचार्यः एतेषां ज्ञातयस्तथा।
वृद्धा धर्मोपदेष्टारो, गुरुवर्गः सतां मतः।।

माता, पिता, कलाचार्य (कला की शिक्षा देनेवाले गुरु) तथा उनके बंधुजन एवम् वृद्ध तथा धर्मोपदेशकों को सत्पुरुष गुरुवर्ग में मानते हैं।

इस गुरुवर्ग को कैसे सम्मान दिया जाय? इस विषय में भी उन्होंने कहा है कि

अभ्युत्थानादि योगश्च तदन्ते निभृतासनम्।
नामग्रहश्च नास्थाने नावर्णश्रवणं क्वचित्।।

गुरु जन को आते हुए देख कर खड़े होकर उनके सामने जाना और सुखशाता पूछना। उनके पास निश्चल होकर बैठना चाहिए। (बार बार बैठ–उठ नहीं करना चाहिए।) अनुचित स्थान पर उनका नाम–ग्रहण नहीं करना चाहिए और कभी उनकी निंदा नहीं सुननी चाहिए।

श्रीमान् हरिभद्रसूरिजीने इस सूत्र के बाद तुरन्त ही दूसरे सूत्र की रचना की है और कहते हैं कि

आमुष्मिकयोगकारणं तदनुज्ञया प्रवृत्तिः प्रधानाभिनवोपनयनं तद्भोगे भोगोऽन्यत्र तदनुचितादिति ॥१॥३२॥

माता पिता को परलोक के धर्म व्यापार में प्रेरणा करनी चाहिए। उनकी अनुज्ञा से इसलोक और परलोक के कामों में प्रवृत्ति करनी चाहिए। कोई श्रेष्ठ या नई चीज़ प्राप्त हो तो सर्व प्रथम उन्हें भेट करनी चाहिए तथा जो चीज उन्होंने व्रत के कारण छोड़ दी हो; उसे छोड़ कर शेष चीजों का उपयोग उनके द्वारा उपयोग किए जाने के बाद करना चाहिए।

इस पर से यह स्पष्ट होता है कि हरएक गृहस्थ को अपने माता–पिता के प्रति कैसा पूज्य भाव रखना चाहिए। कोई समय उनके वचन कडुअे हों, या वे पुत्र–पुत्रियों द्वारा मान्य धर्म–आराधन में पूरा प्रोत्साहन न देते हों, या उदासिनता बताते हों, तो इसी कारण उनको शत्रु मान लेना नहीं है। अपनी संतानों पर उनका उपकार इतना बड़ा होता है कि उसका बदला दिया जा सकता नहीं है। फिर उनको शत्रु मान लेने की धृष्टता तो कैसे की जा सकती है।

श्रीमान् हरिभद्र सूरिजीने धर्मबिन्दु में **'तथा–भर्तव्यभरणमिति' ।१॥३४॥** सूत्र में कहा है कि जिनका पालन–पोषण करना योग्य हो,उनका पालन पोषण करना चाहिए। माता–पिता, अपने आश्रित स्वजन तथा सेवक इत्यादि का पालन पोषण करना चाहिए। और उन्होंने यह भी बताया है कि **तथा–तस्य यथोचितं विनियोग इति। १। ३५॥** भरण पोषण करने योग्य जनों को अपने लिए योग्य काम में लगाना चाहिए एवम् **तथा–तत्प्रयोजनेषु बहुलक्षतेति ।१।३६॥** उस पोष्य

वर्ग के धर्म, अर्थ और काम के प्रयोजनों में हमेशा लक्ष रखना चाहिए। **तथा 'अपायपरिरक्षोद्योग इति'** ।१।३७॥ उस पोष्य वर्ग की अनर्थ में से रक्षा करने का उद्योग करना जाहिए। **तथा–'गर्ह्ये ज्ञानस्वगौरवरक्षा इति'** । १ ॥ ३८॥ यदि वह पोष्य वर्ग निंदा करने योग्य हो जाए तो गृहस्थ को अपने ज्ञान और गौरव की रक्षा करनी चाहिए।

आर्य देश में हिन्दू परिवारों में तथा अन्य समाजों में लगभग ऐसा ही व्यवहार चला आया है। अतः दीक्षा ग्रहण करने के पहले उनके पालन–पोषण का यथाशक्ति प्रबन्ध करना आवश्यक माना गया है।

प्रश्नः––यह उपाय करने पर भी यदि माता पिता अनुज्ञा न दें तो?

उत्तरः––ऐसी परिस्थिति में जैसे कि श्री चिरंतनाचार्य ने पंचसूत्र में कहा है:–**सव्वहा अपडिवज्जमाणे चइज्जा ते अट्ठाणगिलाणोसहत्थचागनाएणं**–यदि सर्वथा आज्ञा न दी जाय तो अस्थान में रहे हुए ग्लान का औषध पाने के लिए त्याग कर के जाना पड़ता है उसी दृष्टांत के अनुसार उनका त्याग किया जा सकता है। यह दृष्टांत शास्त्रो में नीचे लिखे अनुसार है।

कोई कुलपुत्र अपने मातापितादि के साथ उनकी सेवा में मग्न होता एक बार किसी प्रकार अपार जंगल में जा पहुँचा। वहां मातापितादि के जीवन को नष्ट करने वाला और संभवतः वैद्यादि के विशेष उपचारों से ही दूर किया जा सके, ऐसा बहुत बड़ा भयंकर रोग उन्हें लागू–हुआ। उस समय वह कुलपुत्र मातापिता के अनुराग से इस प्रकार सोचने लगा। ये माता पिता अवश्य औषध के बिना जीवित

नहीं रह सकते हैं । और यदि औषध मिला, तो जीवित रहने का संभव है । ये मातापितादि मुझे जाने देते नहीं । लेकिन ये माता–पिता काल सहन कर सकेंगे, अतः मेरे वियोग से या रोगसे तात्कालिक मृत्यु होने की संभावना नहीं है ।' इस प्रकार विचार करके वह माता पितादिक को विविध वचनों से सान्त्वन देता है और औषधादिक के निमित्त से तथा अपनी वृत्ति जारी रहे इसलिए वह माता पितादि का त्याग कर जाता है। फिर भी उसे साधु अर्थात् सज्जन कहा जाता है । यहाँ यह समझना है कि धीर पुरुष प्रधानतः फल को ही देखते हैं । अतः जहां फल दिखाई देता है, उसी कार्य में वे प्रवृत्त रहते हैं । औषधादि का उपचार लाकर ही वे माता–पिता को जीवित रख सकते हैं। और ऐसा करना वह सत्पुरुषों के लिए उचित है ।

इस दृष्टांत का अर्थ बताते हुए शास्त्रकार महर्षि कहते हैं कि यहाँ जो कुलपुत्र कहा गया है, वह शुक्लपाक्षिक (जिसके मन के परिणाम उज्वल है, ऐसा) महापुरुष समझना है । वह पुरुष इस संसार रूपी वन में पड़ा हुआ धर्ममग्न हो अपने मातापितादि के साथ रहता है । अब माता पिता को मोह कर्म का ऐसा रोग लागू हुआ है जो कि अवश्य घातक है और सम्यक्त्वादि से साध्य है। अतः शुक्लपाक्षिक महापुरुष धर्मराग से सोचता है कि ये सभी समकितादि औषध के बिना अवश्य विनष्ट होंगे । और समकितादि संपादन कराने की संभावना है। और समकितादि औषध से उनका कर्मस्वरूप रोग दूर होगा । इसलिए समकितादि प्राप्त करने का उद्यम कर्तव्य है । और व्यवहार से सभी कालको सहन कर सकते हैं, तत्काल विनष्ट हो जाते नहीं हैं । इस

लिए वह उनके इस जीवन के तब तक निर्वाह इत्यादि की चिंता करके उनके समकितादि औषध के निमित्त तथा अपने को चारित्र्य लाभ हो इसलिए गुरुजन का त्याग करने वाला पुरुष उत्तम माना जाता है।

प्रश्नः—इस प्रकार उनका त्याग करने से परिवार में रोनेकी और चिल्लाने की परिस्थिति खड़ी होने की संभावना है या नहीं? और यदि ऐसी परिस्थिति खड़ी हो तो उसका दोष दीक्षार्थी को लग सकता है या नहीं?

उत्तरः—इस प्रकार उनका त्याग करने से रोने की और चिल्लाने की परिस्थिति खड़ी होने की संभावना है। परन्तु यदि परिस्थिति अपरिहार्य हैं तब दूसरा क्या किया जा सकता है? वह रोना और चिल्लाना मोह के आधीन होता है। अतः उसका दोष दीक्षार्थी को लगता नहीं है। इस लिए पंचवस्तु में कहे गए निम्न शब्दों को विचारना योग्य है।

अब्भुवगमेण भणियं ण उ विहिचाओऽवि तस्स हेउत्ति।
सोगइम्मि वि तेसिं मरणे व विशुद्धचित्तस्स॥

जैसे विशुद्ध चित्त से मरनेवाली आत्मा को बाद में स्वजनों के शोकादि से पाप लगता नहीं है। वैसे दीक्षा के लिए स्वजनों का विधिवत् त्याग करने वाले को उन के शोकादि से पाप लगता नहीं है।

इस विवेचन का सार यह है कि दीक्षार्थी को मातापितादि का त्याग अवश्य करना है, परन्तु वह त्याग उपर्युक्त विधि के अनुसार होना चाहिए। ताकि उनकी ओर से दीक्षा में कोई प्रामाणिक अवरोध न हो और झगडों को लेकर बाद में न्यायालय में जाने की परिस्थिति पैदा न हो।

: ९ :

प्रव्रज्या विधि

जैन श्रमणों की प्रव्रज्या विधि क्या है, वह भी जानना चाहिए। अतः उसके बारे में यहाँ सारभाग विवेचन दिया जाता है।

प्रव्रज्या यानी दीक्षा की अभिलाषा को लेकर कोई भी पुरुष अपने पास आवे तब जैन श्रमण उनका अनुग्रह बुद्धि से स्वीकार करते हैं। अतः निष्पाप जीवन ग्रहण कराने की बुद्धि से उसे प्रव्रज्या ग्रहण कराई जाती है। परन्तु अपने पर्षदा (संघ) की पूर्ति होगी, ऐसी बुद्धि से प्रव्रज्या नहीं दी जाती।

जैन शास्त्रों में प्रव्रज्या स्वीकार करने की इच्छा से सम्मुख आने वाले भव्य जीव को यह प्रश्न पूछने का विधि है कि 'हे वत्स ! तू कौन है ? कहाँ से आता है ? और क्यों प्रव्रज्या ग्रहण करने के लिए तत्पर बना है।' इस प्रश्न का उत्तर यदि वह इस प्रकार दे कि:—'हे भगवन् ? मैं कुलपुत्र हूँ। अतः अमुक वंश का हूँ अमुक ज्ञाति का हूँ और अमुक माता-पिता से पैदा हुआ हूँ। अमुक गाँव—नगर या पुर—पाटण से आता हूँ और भवपरम्पराको भयानक समझ कर उसके विनाश के लिए प्रव्रज्या —दीक्षा लेने के लिए तैयार हुआ हूँ'। फिर उसे प्रश्न शुद्ध समझा जाता है अर्थात् दीक्षा लेने योग्य समझा जाता है। यदि उत्तर ठीक ठीक प्राप्त न हो या सन्देह जैसा लगे तो उसे प्रव्रज्या देने के बारे में गहराई से विचार कर के निर्णय किया जाता है। यहाँ निमित्त शास्त्र द्वारा अर्थात् शकुनादि से भी शिष्य की परीक्षा करने की विधि है।

फिर प्रश्नशुद्ध दीक्षार्थी के सामने साधु–क्रियाओं का व्याख्यान दिया जाता है कि साधु–धर्म क्या है और उसे पालने से या न पालने से क्या परिणाम आता है; वह बराबर समझाया जाता है। क्योंकि प्रव्रज्या कायर पुरुषों के लिए बड़े दुःख से पालन की जा सके, ऐसी है। यदि उसकी सम्यग् रूप से आराधना की जाय तो वह मोक्षरूपी फल को देने वाली है, परन्तु उसकी विराधना की जाय तो वह संसारफल स्वरूप दुःख देनेवाली है। जैसे कुष्ठादि व्याधि से ग्रस्त मनुष्य चिकित्सा शुरू करने के बाद अपथ्य का सेवन करने से चिकित्सा शुरू नहीं करने वालों की अपेक्षा जल्दी विनष्ट होता है, उसी प्रकार कर्मफल स्वरूप व्याधि के क्षय के लिए प्रव्रज्या अर्थात् संयम रूप भाव–क्रिया का स्वीकार कर के बादमें असंयम रूप अपथ्य का सेवन करता है, वह अधिक कर्म का समुपार्जन करता है।

तात्पर्य कि हे वत्स ! तू प्रव्रज्या ग्रहण करने के लिए तत्पर बना है, वह बड़ी प्रसन्नता की बात है, परन्तु उसका ठीक पालन कर सकेगा या नहीं ? उसका फिर एक बार शान्त चित्त से विचार कर। जैन दीक्षा अन्य दीक्षा जैसी साधारण या सरल नहीं है। परन्तु बहुत ऊच्च कोटिकी वस्तु है। अतः वह वज्र जैसा दृढ़ संकल्प चाहती है। वह तुममें है या नहीं ? उसका अपनी आत्मा की कक्षा ध्यान में रखकर निर्णय कर।

इस के उत्तर में यदि वह ऐसा कहे की मैं जैन दीक्षा का महत्व ठीक ठीक समझ पाया हूँ। और उसको ठीक ढंगसे पालन करुँगा। फिर भी उसकी और परीक्षा की जाती है। क्यों कि

असत्याः सत्यसङ्काशाः सत्याश्चासत्यसन्निभाः।
दृश्यन्ते विविधा भावास्तस्माद् युक्तं परीक्षणम्॥ १॥

अतथ्यान्यपि तथ्यानि, दर्शयन्ति हि कौशलाः।
चित्रे निम्नोन्नतानीव, चित्रकर्मविदो जनाः ॥ २ ॥

इस संसार में असत्य सत्य जैसे और सत्य असत्य जैसे विविध स्वरूप में दिखाई देते हैं। अतः उसकी परीक्षा करना आवश्यक है। जो चित्रकर्म जानने वाले लोग अपनी कुशलता के कारण चित्रपट समतल होने पर भी उसे ऊँचा–नीचा बताते हैं, उसी प्रकार अति कुशलता को धारण करनेवाली आत्मा झूठी वस्तुओं को भी सत्य के रूप में बतलाती हैं।

यहाँ कहने का भावार्थ यह है कि उपर्युक्त प्रश्नों के उत्तर में दीक्षार्थी जो जवाब देता है, मात्र उसे ही न मानकर सत्य परिस्थिति का नाप निकाल ने के लिए परीक्षा का मार्ग ग्रहण किया जाता है।

यह परीक्षा सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्र की परिणति के विषय में करनी है। इसलिए शास्त्रों मे कहा है कि **"परीक्षा च सम्यक्त्व–ज्ञान-चारित्र–परिणतिविषया।"** अतः दीक्षा लेने वाला सुदेव, सुगुरु और सुधर्म कि श्रद्धा को प्राप्त हुआ है या नहीं? और यदि ऐसी श्रद्धा प्राप्त की हो तो वह श्रद्धा मजबूत है या नहीं? उसकी जाँच की जाती है। इसके साथ प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकंपा और आस्तिक्य, ये सम्यक्त्व सूत्रके लक्षण उसमें कहाँ तक विकसित हुए हैं? उसका भी अनुमान किया जाता है। इसी प्रकार दीक्षार्थी के ज्ञान की परीक्षा की जाती है। अतः उसे जीव, अजीव, पुण्य, पाप आश्रव, संवर, निर्जरा, बँध और मोक्ष, कि जो जैन धर्म द्वारा स्वीकृत नव तत्त्व हैं उनका कुछ बोध हुआ है या नहीं? यह कुछ प्रश्न पूछ कर जान लिया जाता है बाद में

चारित्र के परिणाम क्यों हुए ? और उसके स्वरूप तथा प्रकारों से ज्ञात है या नहीं ? उसकी जांच की जाती है । इस परीक्षा का काल कितना समझा जाय ? इस विषय में शास्त्रकारों ने कहा है कि:—

अब्भुवगयंपि संतं पुणो परिक्खेज्ज पवयणविहीए ।
छम्मासं जा ऽऽ सज्ज व, पत्तं अद्धाए अप्प बहुं ॥

प्रश्न और साधुधर्म के कथन द्वारा दीक्षार्थी को स्वीकार करने के बाद भी प्रवचन की विधि के अनुसार अर्थात् अपनी चर्चा द्वारा उसकी फिर परीक्षा करनी चाहिए । इस परीक्षा का काल छः माह तक का है । यदि दीक्षार्थी विशेष योग्यता वाला हो तो यह काल बहुत कम भी किया जा सकता है । और इससे उल्टा हो तो काल बढ़ाया भी जा सकता है ।

विधियुक्त परीक्षा लेने के बाद उसकी योग्यता से ज्ञात हो कर उसने उपधान तप न किया हो तो भी उसे कण्ठ से सामायिक सूत्र अर्पण किया जा सकता है । परन्तु प्रथम ही पाटीपर लिख कर दिया जा जा सकता नहीं है । पात्र मानकर उसे इर्यापथिकी आदि अन्य सूत्र भी पढ़ाये जाते हैं ।

श्री हरिभद्र सूरिजीने धर्मबिन्दुमें-**'तथा उपायतः कायपालनमिति' ।४।३६।** इस सूत्र द्वारा बताया है कि दीक्षार्थी को निर्दोष अनुष्ठान के अभ्यास स्वरूप उपाय द्वारा पृथ्वीकाय, अपूकाय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, त्रसकाय, इन षड् जीव निकाय के जीवों का पालन कर सके ऐसा बनाना है । भावार्थ कि उसे सूत्रदान उपरांत अहिंसा की तालीम देने की भी विधि है ।

इस समय दरम्यान दीक्षार्थी के दीक्षा लेने के भाव क्रमशः बढ़ते रहे, यह आवश्यक माना गया है। **तथा भाववृद्धि करणमिति ।४।३७।।** और उस की शक्ति के अनुसार देव, गुरु तथा संघ की पूजा इत्यादि में द्रव्यका त्याग तथा अनशन, तप इत्यादि का अध्ययन भी जरूरी माना गया है। **तथा शक्तितस्त्यागतपसीति ।४।३९।।**

यह प्राथमिक जाँच समाप्त होने के बाद उचित काल की अपेक्षा रखी जाती है। अतः दीक्षा देने के लिये अच्छा मुहूर्त देखा जाता है। इस बारे में कहा गया है कि:—

तिहिं उत्तराहिं तह रोहिणीहिं कुज्जा उ सेहनिक्खमणं।
गणिवायए अणुन्ना महव्वयाणं च आरूहणा ।।
चउद्दसीपन्नरसिं वज्जेज्जा अट्ठमिं च नवमिं च।
छट्ठिं च चउत्थिं बारसिं च, दोण्हंपि पक्खाणं ।।

तीन उत्तरा नक्षत्र अर्थात् उत्तराषाढा, उत्तरा भाद्रपद और उत्तरा फाल्गूनी तथा रोहिणी नक्षत्र के बारे में शिष्य को निष्क्रमण अर्थात् दीक्षा देनी चाहिए। गणिपद, अथवा वाचकपद की अनुज्ञा तथा महाव्रत की आरोपणा भी उसमें ही करनी चाहिए।

दीक्षा ग्रहण करने में दोनों पक्षों की चतुर्दशी, पूनम, अष्टमी नौम, छठ, चौथ, और द्वादशी, इन तिथियों का वर्जन करना चाहिए।

शास्त्रकारों ने प्रव्रज्या के सम्बन्ध में प्रश्नशुद्धि, कालशुद्धि, क्षेत्र-शुद्धि, दिशाशुद्धि, और वंदनादिशुद्धि, इन पाँच शुद्धियों का विधान किया

---

* शास्त्राध्ययन की योग्यता के लिए किया जाता एक प्रकार का तप।

है। उनमें प्रश्नशुद्धि और कालशुद्धि पर हम देख गए। कालशुद्धि के बारे में विशेष विचार गणिविद्या नामक प्रकरण में किया गया है।

क्षेत्रशुद्धि अर्थात् दीक्षा देने के लिए शुद्ध स्थान की पसंदगी। इस विषय में शास्त्रकारों ने कहा है कि:—

उच्छुवणे सालिवणे पउमसरे कुसुमिए वणखंडे।
गंभीर साणुणाए पयाहिणजले जिणहरे वा॥

ईख और डांगर (चावल) के वन में—खेत में, पद्म सरोवर के तटपर, पुष्प सहित वनखंड में अर्थात् बाग, वाडी, बगीचा या उद्यान में, बहने वाले जल के समीप अर्थात् दाहिनी ओर बहने वाले स्रोत या नदी के तटपर तथा जिनगृह, जिनचैत्य में दीक्षा देनी चाहिए।

इस प्रकार क्षेत्रशुद्धि करने का कारण यह है कि उससे सामायिकादि के परिणाम प्रगट होते हैं और ऐसे परिणाम प्रगट होने से वह स्थिर होता है।

दिशाशुद्धि के लिए कहा गया है कि:—

पुव्वाभिमुहो उत्तरमुहो व दिज्जाइ वा पडिच्छेज्जा।
जाए जिणादओ वा दिसाए जिणचेइयाइं वा॥

पूर्वाभिमुख अथवा उत्तराभिमुख अथवा जिस दिशामें केवली भगवंत विचरते हों या जिनचैत्य आया हुआ हो, उस दिशा के सम्मुख बैठाकर शिष्य को दीक्षा देनी चाहिए।

इसलिए आजकल जिनेश्वर भगवंत का समवसरण स्थापित करके उनके सम्मुख प्रव्रज्या की विधि की जाती है।

वंदनादि शुद्धि में चैत्यवंदन–देववन्दन और कायोत्सर्ग तथा वासक्षेप, रजोहरण और वेशसमर्पण की क्रियाएँ समझनी हैं।

इस प्रकार जिसकी विशिष्ट शुद्धि हुई है, ऐसा दीक्षार्थी श्रामण्य के योग्य माना जाता है और गुरुमहाराज उसे सर्वविरति का–पाप व्यापार के सर्वांश से त्याग का प्रत्याख्यान कह कर सामायिक नामक प्रथम चारित्र की दीक्षा देते हैं। उस समय उसके पास नीचे के पाठ का उच्चारण कराया जाता है।

करेमि भंते ! सामाइयं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ॥

हे भगवंत ! मैं सामायिक करता हूँ, याने सर्व पाप व्यापार छोड़ने की प्रतिज्ञा करता हूँ। जबतक जीवित रहूँगा, तबतक तीनों प्रकार से अर्थात् मन से, वचन से और काया से पापव्यापार करूँगा नहीं, कराऊँगा नहीं और दूसरा कोई करता होगा तो उसे अच्छा न मानूँगा। हे भगवंत ! भूतकाल में मुझ से जो पाप–व्यापार हुआ हो, उससे मैं वापस लौटता हूँ। उसकी निंदा करता हूँ। उस की गर्हा करता हूँ। और अपनी आत्मा का विसर्जन करता हूँ अर्थात् इस प्रकार की मलिन प्रवृत्ति से अपनी आत्मा को मुक्त करता हूँ।

तत्पश्चात् पंच महाव्रत और छठा रात्रिभोजन–विरमण ग्रहण कराया जाता है। अतः दीक्षार्थी नियमानुसार साधु या श्रमण माना जाता

है। और इसी समय उसके नामकरण की विशिष्ट विधि सम्पन्न होती है। और उसके बाद वह उस नामसे पहचाना जाता है।

बाद में गुरु उसे हितशिक्षा देते हैं। अतः जिस श्रामण्य को स्वीकार किया है, उसका यथानियम पालन करने का उपदेश देते हैं। फ़िर श्रमण–जीवन का प्रारंभ होता है।

: १० :

पांच महाव्रत

दीक्षार्थियों को **'करेमिभंते'** पाठ से सर्व पाप के परिहारस्वरूप सामायिक नामक जो चारित्र ग्रहण कराया जाता है, उसकी पूर्तिरूप पांच महाव्रत और छठा रात्रि–भोजन विरमण व्रत का उच्चार कराया जाता है। अतः उन व्रतों का विशेष परिचय देना आवश्यक है।

सर्व प्रथम उन व्रतों के नाम तथा उनके अर्थ समझ लें। बाद में उन्हें धारण करने की विधि के बारे में देखेंगे।

पांच महाव्रतों के नाम

(१) प्राणातिपात–विरमण–व्रत।
(२) मृषावाद–विरमण–व्रत।
(३) अदत्तादान–विरमण–व्रत।
(४) मैथुन–विरमण–व्रत।
(५) परिग्रह–विरमण–व्रत।

जैन शास्त्रों में पांच प्रकार के चारित्र माने गए हैं। (१) सामायिक (२) छेदोपस्थापनीय, (३) परिहारविशुद्धि, (४) सूक्ष्मसंपराय और (५) यथाख्यात,

पांच महाव्रतों के अर्थ

प्राण का अतिपात, वह प्राणातिपात। यहाँ प्राण शब्द से जैनशास्त्र में माने गए दस प्रकार के प्राण अर्थात् पांच इन्द्रियाँ, मनोबल, वचन-बल, कायबल, श्वासोछ्वास और आयुष्य, समझना है। अतिपात अर्थात् अतिक्रमण, व्याघात या विनाश। अतः वनस्पति से लेकर चीटी, कीड़े, पशु, मनुष्य इत्यादि किसी भी जीव के प्राण को हानि पहुँचानी, नाश करना या उसे पीड़ित करना उसे भी प्राणातिपात कहा जाता है। हिंसा, घातना, मारणा, विराधना, संरंभ, समारंभ,, आदि उसके पर्यायवाची शब्द हैं। इस क्रिया से विमुख होना यानी अलग होना; वह है प्राणाति-पात–विरमण–व्रत।

मृषा ऐसा जो वाद, वह है, मृषावाद। यहाँ मृषा शब्द अप्रिय, अपथ्य तथा अतथ्य का सूचक है। जब वाद शब्द वदने या कहने का भाव सूचित करता है। अतः अप्रिय बोलना या अतथ्य बोलना उसे मृषावाद कहा जाता है। अलीक वचन, असत्य, झूठा ये उसके पर्याय-वाची शब्द हैं। उनसे विमुख होना यानी अलग होना, वह व्रत मृषावाद-विरमण–व्रत है।

अदत्त का आदान वह अदत्तादान है। जो चीज़ उसके मालिक ने स्वखुशी से न दी हो, उसे अदत्त कहा जाता है। उसका आदान याने ग्रहण करना वह है अदत्तादान। स्तेय या चोरी, ये दोनों प्रसिद्ध नाम हैं। उसे विमुख होना याने अलग होना, वह अदत्तादान–विरमण–व्रत है।

मिथुन का भाव वह मैथुन है। नरमादा के जोड़े को मिथुन कहा जाता है। उनके परस्पर भोग करने की वृत्ति–क्रिया, वह मैथुन

है। व्यवहार में उसे अब्रह्म, कामक्रीडा, विषयभोग या संभोग कहा जाता है। उससे विमुख याने अलग होना—वह है मैथुन—विरमण—व्रत।

परि उपसर्ग के साथ गृह् धातु स्वीकार या अपनाने का अर्थ बताता है। अतः जिस चीज का स्वामित्व—भाव से स्वीकार किया गया हो, वह परिग्रह है। उससे विमुख होना या अलग होना वह व्रत परिग्रह—विरमण—व्रत है।

इन व्रतों को स्वीकार करते समय निम्न पाठ बोले जाते हैं:—

प्रथम महाव्रत का पाठ

पढमे भन्ते! महव्वए पाणाइवायाओ वेरमणं। सव्वं भन्ते पाणाइवायं पच्चक्खामि। से सुहुमं वा, बायरं वा, तसं वा, थावरं वा, नेव सयं पाणे अइवाइज्जा, नेवऽन्नेहिं पाणे अइवायाविज्जा, पाणे अइवायन्तेऽवि अन्ने न समणुजाणामि, जावज्जीवाए, तिविहिं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि तस्स भंते। पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि। पढमे भन्ते! महव्वए उवट्ठिओ मि सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं ॥१॥

हे भदन्त! जीवहिंसा में से विमुख होना वह प्रथम महाव्रत है। (यह मैं समझ पाया हूँ।) अब हे भदन्त! मैं सर्व प्रकार की जीव हिंसा का त्याग करता हूँ। किसी भी प्राणी, चाहे वह सूक्ष्म हो या बादर हो, त्रस हो या स्थावर हो, परन्तु मैं स्वयं उसकी हिंसा करूँगा नहीं, दूसरों से कराऊँगा नहीं तथा यदि कोई करता होगा तो उसका मैं समर्थन नहीं करूँगा।

जब तक मैं जीवित हूँ, तब तक मन, वचन और काया, इन तीनों से मैं जीवहिंसा नहीं करूँगा, किसी से कराऊँगा नहीं और यदि कोई करता होगा तो मैं उसका समर्थन न करूँगा। हे भदन्त ! भूतकाल में की गई जीवहिंसा से मैं वापस आता हूँ, उसकी निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और उस हिंसा करनेवाली मेरी आत्मा का त्याग करता हूँ।

हे भदन्त ! सर्व प्रकार की जीव हिंसा से विमुख होकर मैं प्रथम महाव्रत में स्थिर होता हूँ।

यह महाव्रत सभी से मुख्य है। अतः उसे पहले लिया गया है।

पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय, ये जीव के छः वर्ग हैं। ये छः वर्ग ही एक-दूसरे के प्रति हिंसा-परिग्रहादि द्वारा कर्मबन्धन के निमित्त बनते हैं।

प्रश्नः—पृथ्वीकाय किसे कहा जाता है?

उत्तरः—पृथ्वी ही जिसकी काया है, उसे पृथ्वीकाय जीव कहा जाता है। मिट्टी, विविध प्रकार के पत्थर, स्फटिक, मणि, रत्न, हिंगलोक, हड़ताल, मनशील, पारा, सुवर्ण इत्यादि सातों प्रकार की धातुएँ उसके प्रकार हैं।

प्रश्नः—अप्काय किसे कहते हैं?

उत्तरः—अप् यानी पानी है जिसकी काया, उसे अप्काय जीव कहा जाता है। पृथ्वी पर स्थित पानी अर्थात् कुओं, वाव, तालाब, सरोवर का पानी, आकाश का पानी अर्थात् वर्षा का पानी, बर्फ का पानी, हरियाली पर का पानी इत्यादि पानी के विभिन्न प्रकार हैं।

प्रश्नः—तेजस्काय किसे कहा जाता है?

उत्तरः—तेजस् यानी अग्नि जिसकी काया है, वह तेजस्काय जीव है। अंगारे का अग्नि, ज्वाला का अग्नि, राख सेढ़ का हुआ अग्नि, (भरसाड़का अग्नि) उल्कापात का अग्नि, वज्र का अग्नि, कणक का अग्नि, बिजली का अग्नि इत्यादि उसके प्रकार हैं।

प्रश्नः—वायुकाय किसको कहते हैं?

उत्तर—वायु ही जिसकी काया है, उसे वायुकाय जीव कहा जाता है। शुद्ध वायु (मंद—मंद लहरता हो वह), महावायु, झंझावात इत्यादि उसके प्रकार हैं।

प्रश्नः—वनस्पति काय किसको कहते हैं?

उत्तरः—वनस्पति ही जिसकी काया है, वह वनस्पतिकाय जीव है। वृक्ष, लता, गुल्म, घास, धान्य, इत्यादि उसके विविध प्रकार हैं।

प्रश्नः—त्रसकाय क्या है?

उत्तरः—जो जीव हलन चलन कर सके ऐसी कायावाले हो, उसे त्रस—काय कहा जाता है। चीटी, मच्छर, मक्खी, कुन्थू, मछली, साँप, पक्षी, पशु, मनुष्य इत्यादि उसके विभिन्न प्रकार हैं।

इस व्रत को लेकर श्रमण किसी भी प्रकारसे पृथ्वी को न खोदे, कुओं, वावडी या सरोवर में से तल भर उसका उपयोग न करें या उसमें पड़कर स्नान न करें, किसी प्रकार का अग्नि प्रगट न करें, सामान्य या बिजली के पंखे का उपयोग न करें, किसी भी वनस्पति का फल, फूल, शाखा, पत्ते, या मूल को न तोडें, उतना ही नहीं परन्तु उनका स्पर्श तक न करें। वे चीटी, मक्खी, मच्छर, मछली, साँप, पक्षी, पशु,

मनुष्य इत्यादि की हिंसा न करें। वे कहीं भी जाना चाहें तो पैदल जायें, परन्तु किसी भी स्थिति में पशु पर सवारी न करें और उसके द्वारा खींचे जानेवाले वाहन का उपयोग भी न करें। क्योंकि उस पर सवारी करने से उसे पीड़ा होती है, दुःख होता है।

वे सोते, बैठते तथा उठते समय हमेशा यह ख्याल रखें कि किसी भी जीव की विराधना (दुःख या नाश) न हो। इस प्रकार आदर्श अहिंसामय जीवन प्रसार करें।

अहिंसा, वह धर्म का प्राण है, धर्म का मूल है धर्म का वास्तविक रहस्य है। अतः उत्कट धर्म की गणना के प्रसंग पर नाम उसका दिया गया है। **"धम्मोमंगल मुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो।"**

श्री दशवैकालिक सूत्र में कहा हैं कि:—

तेसिं अच्छणजोएण, निच्चं होयव्वयं सिया।
मणसा काय-वक्केण एवं हवई संजए॥

वही संयमी जीवन है कि मन, वचन और काया, इन तीनों योगों से किसी भी योग द्वारा किसी भी प्राणी की हिंसा न हो।

श्री सूत्रकृतांग में कहा है कि:—

एवं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ किंचण।
अहिंसा समयं चेव, एयावन्तं वियाणिया॥

ज्ञानियों के वचनों का सार यही है कि किसी भी प्राणी की हिंसा न की जाय और अहिंसा को ही शाश्वत धर्म माना जाय।

उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है कि:—

नाइवाएज्ज किंचण—श्रमणों को किसी भी प्राणी की हिंसा

करनी नहीं चाहिए। **मेत्ति भूएसु कप्पये** उन्हें सर्व जीवों के प्रति मैत्री भाव रखना चाहिए।

अन्य धर्मों में भी अहिंसा का उपदेश दिया गया है। परन्तु वह इतना सूक्ष्म व विशद नहीं है।

द्वितीय महाव्रत का पाठ

अहावर दुच्चे भन्ते। महव्वए मुसावायाओ वेरमणं। सव्वं भन्ते! मुसावायं पच्चक्खामि। से कोहा वा लोहा वा भया वा, हासा वा, नेव सयं मुसं वइज्जा, नेवऽन्नेहिं मुसं वायाविज्जा, मुसं वयन्ते वि अन्ने न समणुजाणामि, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्तं न समणुजाणामि तस्स भन्ते! पडिक्कमामि निन्दामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि॥

दुच्चे भन्ते! उवट्ठिओ मि सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं॥ २॥

हे भदन्त! असत्य बोलने से विमुख होना वह दूसरा महाव्रत है (ऐसा मैं समझ पाया हूँ,) हे भदन्त! सर्वप्रकार की असत्य वाणियों का मैं त्याग करता हूँ। क्रोध, लोभ या भय से या हँसने में मैं स्वयं असत्य न बोलूँगा, दूसरों से बुलवाऊँगा नहीं या असत्य बोलनेवाले का समर्थन नहीं करूँगा। जबतक जीवित रहूँगा, तबतक मैं असत्य बोलूँगा नहीं, बुलवाऊँगा नहीं और असत्य बोलनेवाले का समर्थन न करूँगा। हे भदन्त! भूतकाल में बोले गए असत्य बचनों से मैं वापस आता हूँ, उसकी निंदा करता हूँ; उसकी गर्हा करता हूँ और असत्य बोलनेवाली मेरी आत्मा का त्याग करता हूँ।

हे भदन्त । सर्व प्रकार से असत्य बोलने से मैं अलग हो कर द्वितीय महाव्रत में स्थिर होता हूँ ।

श्री दशवैकालिक सूत्रमें कहा है कि :—

मुसावायाओ य लोगम्मि, सव्वसाहूहि गरहिओ ।
अविस्सासो य भूयाणं, तम्हा मोसं विवज्जए ॥

संसार के सर्व प्रकार के साधु–पुरुषों ने मृषावाद, असत्य की निंदा की है। असत्य सर्व प्राणियों के लिए अविश्वनीय है अर्थात् असत्य से सभी प्राणियों को विश्वास हट जाता है। अतः उसका सर्वथा त्याग करना चाहिए ।

तृतीय महाव्रत का पाठ

महावरे तच्चे भन्ते ! महव्वए अदिन्नादाणाओ वेरमणं ! सव्वं भन्ते ! अदिन्नादाणं पच्चक्खामि । से गामे वा, नगरे वा, रण्णे वा, अप्पं वा, बहुं वा, अणुं वा, थूलं वा, चित्तमंतं वा, अचित्तमंतं वा, नेव सयं अदिन्नं गिण्हिज्जा, नेवऽन्नेहिं अदिन्नं गिण्हाविज्जा, अदिन्नं गिण्हन्ते वि अन्ने न समणुजाणामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भन्ते पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ।

तच्चे भन्ते महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं ॥ ३ ॥

हे भदन्त ! मालिक द्वारा न दी गई हो, ऐसी किसी चीज़ को लेने से इनकार करना वह तीसरा महाव्रत है । हे भदन्त ! मैं सर्व प्रकार के अदत्तादान का त्याग करता हूँ । गांव, नगर या अरण्य में थोड़ा,

बहुत, छोटा, बड़ा, सजीव या निर्जीव, कुछ भी मालिक द्वारा न दिया गया हो, उसका मैं स्वयं ग्रहण करूँगा नहीं, दूसरों से ग्रहण कराऊँगा नहीं तथा ग्रहण करने वाले को अनुमति भी दूँगा नहीं। मैं जबतक जीवित हूँ, तबतक मन, वचन और काया से स्वयं चोरी करूँगा नहीं तथा दूसरों से करवाऊँगा नहीं तथा करने वाले को अच्छा मानूँगा नहीं। हे भदन्त ! भूतकाल में जो कुछ चोरियाँ की गई हैं; उनसे वापस लौटता हूँ, उनकी निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ, और उस चोरी करनेवाली मेरी आत्मा का त्याग करता हूँ।

हे भदन्त ! सर्व प्रकार के अदत्तादान से विमुख हो कर मैं तीसरे महाव्रत में स्थिर होता हूँ।

श्री प्रश्नव्याकरण सूत्र में कहा है कि :—

अदत्तादाणं अकित्तिकरणं अणज्जं साहुगरहणिज्जं।
पियजणमित्तजणभेदविप्पीतिकारकं रोगदोसबहुलं ॥

अदत्तादान अपयश करनेवाला अनार्य कर्म है, और उसकी सभी संतों द्वारा निंदा की गई है। वह प्रियजन, मित्रजन में भेद तथा अप्रतीति को उत्पन्न करनेवाला और रागद्वेष से भरा हुआ है।

हरदहमरणभयकलुसतासण परसंतिगऽभेज्ज लोभमूलं।
उप्पूरसमरसंगामडमर कलि कलहवेह करणं ॥

चौर्य कार्य दूसरों के हृदयों को दग्ध करता है। वह मृत्यु, भय और त्रास उत्पन्न करता है परधन में गृद्धि (आसक्ति) का हेतु तथा लोभ का मूल है। बड़े–बड़े समर–संग्राम डमर–स्वचक्र–परचक्र, भय, कलह, वेध, पश्चाताप आदि का हेतु है।

इसी कारण जैन–श्रमण दांतो के लिए उपयोग में आनेवाली सली तक को बिना मालिक द्वारा दिए, लेते नहीं हैं।

चतुर्थ महाव्रत का पाठ

अहावरे चउत्थे भन्ते। महव्वए मेहुणाओ वेरमणं। सव्वं भन्ते! मेहुणं पच्चक्खामि! से दिव्वं वा, माणुसं वा, तिरिक्खजोणियं वा, नेव सयं मेहुणं सेविज्जा, नेवऽन्नेहि मेहुणं सेवाविज्जा मेहुणं सेवन्ते वि अन्ने न समणुजाणामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भन्ते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।

चउत्थे भन्ते! महव्वए उवट्ठिओ मि सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं ॥ ४ ॥

हे भदन्त! मैथुन से विलग होना वह चौथा महाव्रत है (ऐसा मैं समझा हूँ।) अब हे भदन्त! सर्व प्रकार के मैथुन का त्याग करता हूँ। दैवी, मानुषी या पाशविक, किसी भी प्रकार के मैथुन का मैं सेवन करूँगा नहीं, दूसरों से सेवन कराऊँगा नहीं तथा कोई सेवन करता होगा तो उसे अच्छा मानूँगा नहीं। हे भदन्त! भूतकाल में किए गए मैथुन से वापस आता हूँ, उसकी निंदा करता हूँ। गर्हा करता हूँ और उस मैथुन करनेवाली मेरी आत्मा का त्याग करता हूँ।

हे भदन्त! सर्व प्रकार के मैथुन में से विमुख होकर मैं चतुर्थ महाव्रत में स्थिर होता हूँ।

प्रश्नव्याकरण सूत्र में कहा है कि:—

विनय–सील–तव–नियम–गुणसमूहे तं बंभं भगवंतं।
गहगण–नक्खत्त–तारगणे वा जहा उडुपत्ती ॥

जैसे ग्रहगण, नक्षत्रगण और तारागण में चंद्र प्रधान है। वैसे विनय, शील, तप, नियम इत्यादि गुणसमूह में ब्रह्मचर्य प्रधान है।

तम्हा निहुएण बंभचेरं चरियव्वं सव्वओ।
विसुद्धं जावज्जीवाए, जाव सेयट्ठि संजउत्ति ॥

अतः जबतक जीवन जारी रहे और जबतक शरीर में रक्त और मांस रहे, तबतक संपूर्ण विशुद्धता पूर्वक निश्चित रूप से ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए।

ब्रह्मचर्य का विशुद्धरूप से पालन हो, इसलिए जैन–श्रमण नीचे लिखे नौ नियमों का पालन करते हैं।

(१) स्त्री, पुरुष और नपुंसक की आबादी से रहित एकान्त विशुद्ध स्थान में वास करते हैं।

(२) कामुक कथाएँ (काम वासनाओं को उकसाने वाली स्त्री सम्बन्धी कथाएँ) कहते नहीं हैं।

(३) जिस पाट, आसन या शयन इत्यादि पर स्त्री बैठी हो, उस का दो घडियों तक उपयोग करते नहीं हैं।

(४) राग को वश होकर स्त्रियों के अंगोपांग को देखते नहीं हैं।

(५) जिस दीवार के अन्दर स्त्री–पुरुष का जोड़ा रहता हो, ऐसे स्थान का त्याग करते हैं।

(६) स्त्री के साथ की जाती पूर्वक्रीडा का स्मरण करते नहीं हैं।

(७) मादक आहार का त्याग करते हैं और यथासंभव तपश्चर्या करते हैं।

(८) आवश्यकता से अधिक आहार करते नहीं हैं।

(९) शृंगार लक्षणा शरीर की शोभा का त्याग करते हैं अर्थात् स्नान, विलेपन, सुवास, (शरीर पर सुगन्धित पदार्थ को मलना) उत्तम वस्त्र, तैल, तंबोल, सेन्ट, लवंडर इत्यादि का उपयोग करते नहीं हैं।

इसके उपरान्त शब्द, रूप, रस, गंध, और स्पर्श आदि इन्द्रियों के विषय में आसक्त रहते नहीं हैं।

अन्य साधु—संन्यासी स्त्रियों को—कुमारिकाओं को अपने चरणों का स्पर्श करने देते हैं और स्वयं उनके शिर पर हाथ भी रखते हैं। जब जैन—श्रमण किसी भी परिस्थिति में स्त्री को स्पर्श करने देते नहीं हैं। इसके बारे में दशवैकालिक सूत्र में कहा है कि:—

हत्थपायपडिच्छिन्नं कन्ननासविगप्पिअं ।
अवि वाससमं नारिं बंभचारी विवज्जए ॥

जिसके हाथ, पैर छेदे हुए है तथा जिसके नाक—कान काटे हुए हैं; वैसी स्त्री यदि सौ वर्ष की बूढ़ी हो तो भी साधु को उसे न देखना, न स्पर्श करना चाहिए।

जैन श्रमणों की बस्ती में सायंकाल के बाद स्त्रियों के प्रवेश के लिए मनाह है। तथा श्रमणियों की बस्ती में पुरुष प्रवेश नहीं कर सकते।

पांचवें महाव्रत का पाठ

अहावरे पंचमे भन्ते ! महव्वए परिग्गाहाओ वेरमणं। सव्वं भन्ते ! परिग्गहं पच्चक्खामि। से अप्पं वा, बहुं वा, अणुं वा, थूलं वा, चित्तमंतं

वा अचित्तमंतं वा, नेव सयं परिग्गहं परिगिण्हिज्जा, नेवऽन्नेहिं परिग्गहं परिगिण्हन्ते वि अन्ने न समणुजाणिज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भन्ते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।

पञ्चमे भन्ते ! महव्वये उवट्ठिओ मि सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं ॥ ५ ॥

हे भदन्त ! परिग्रह के सम्बन्ध से विमुख होना, वह पांचवाँ महाव्रत है (ऐसा मैं समझा हूँ) अब हे भदन्त ! सर्व प्रकार के परिग्रह का त्याग करता हूँ। थोड़ा–बहुत छोटा, बड़ा, सजीव या निर्जीव किसी का भी मैं स्वयं परिग्रह करूँगा नहीं, दूसरों के पास कराऊँगा नहीं तथा परिग्रह करनेवाले को अच्छा मानूँगा नहीं। मृत्यु तक मन, वचन और काया, इन तीनों से मैं स्वयं परिग्रह करूँगा नहीं, कराऊँगा नहीं या दूसरे का समर्थन करूँगा नहीं। हे भदन्त ! भूतकाल में किए गए परिग्रह से मैं वापस आता हूँ और उसकी निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ तथा उस परिग्रह करनेवाली मेरी आत्मा का त्याग करता हूँ।

हे भदन्त ! सर्व प्रकार के परिग्रहों से विमुख हो मैं पांचवें महाव्रत में स्थिर होता हूँ।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है कि:–

वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते, इमम्मि लोए अदुवा परत्था।
दीवप्पणट्ठे व अणंतमोहे, नेयाउयं दट्ठुमदट्ठुमेव ॥

प्रमत्त मनुष्य धनद्वारा न तो इसलोक में अपनी रक्षा कर सकता है या न परलोक में। हाथ में दीप होने पर भी जैसे उसके बुझ जाने

पर मार्ग नहीं दिखाई देता है। वैसे धन के असीम मोह से मूढ़–मनुष्य न्यायमार्ग देखने पर भी, उस मार्ग पर चल सकता नहीं है।

कसिणं पि जो इमं लोयं पडिपुण्णं दलेज्ज इक्कस्स।
तेणाऽवि से न संतुस्से, इइ दुप्पूरए इमे आया॥

धन–धान्य से पूर्ण यह सारा लोक यदि किसी एक मनुष्य को दे दिया जाय, तो भी उसे संतोष न होगा। लोभी आत्मा की तृष्णा इस प्रकार दुष्पूर अर्थात् दुःख द्वारा पूरी की जा सके ऐसी होती है।

जैन शास्त्रकारों ने तत्त्व से मूर्च्छा–ममत्व को ही परिग्रह माना है **"मूर्च्छा परिग्रहः॥"** अतः 'यह वस्तु मेरी है' या 'मैं उस का हूँ' यह मानना और वर्तन करना, वह मूर्च्छा है। 'मेरा कुछ नहीं है।' और "मैं किसी का नहीं हूँ," इस प्रकार मानना ओर वर्तन करना वह परिग्रह से विलग होना है। उसे आकिंचन्य भी कहा जाता है। आकिंचन्य अर्थात् अपनी मानी जा सके ऐसी किसी भी वस्तु से रहित होना। साधु चारित्र की रक्षा के लिए साधारण वस्त्र, कुछ काष्ठ के पात्र तथा रजोहरण इत्यादि धर्मोपकरण रखते हैं, उसे परिग्रह नहीं माना जाता। क्यों कि उनपर उनका ममत्व भाव नहीं होता है। यहाँ इस बात को भी ध्यान में लेना चाहिए कि जैन–श्रमण जूते, चंपल, या छाता तक रखते नहीं हैं। क्योंकि उन्हें भी एक प्रकार का परिग्रह ही माना गया है।

इस व्रत के कारण जैनश्रमण रुपये, सुवर्णमोहरें या कुछ भी धन रखते ही नहीं हैं। धान्य अर्थात् विभिन्न प्रकार के अनाज का संग्रह करते नहीं हैं। क्षेत्र अर्थात् जोती गई या गैरजोती गई जमीन और वस्तु अर्थात् मठ,

मंदिर, हाट, या हवेली का स्वामित्व रखते नहीं हैं। हिरण्य अर्थात् सुवर्ण, रौप्य अर्थात् रजत (रुपा) और कुप्य अर्थात् अन्य धातु तथा सामान रखते नहीं हैं। तथा द्विपद याने नौकर–चाकर, दास–दासी और चतुष्पद यानी हाथी, घोड़ा, ऊँट, बैल, गाय, भैंस, बकरी इत्यादि जानवरों का स्वामित्व रखते नहीं हैं।

जैन–श्रमणों को पांचों महाव्रतों के साथ छठा रात्रिभोजन विरमण –व्रत भी अवश्य लेने का होता है। इसलिए नीचे लिखा पाठ बोला जाता है।

रात्रिभोजन–विरमण व्रत का पाठ

अहावरे छट्ठे भंते ! वए राइभोअणाओ वेरमणं। सव्वं भन्ते ! राइभोयणं पच्चक्खामि। से असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा, नेव सयं राइं भुंजिज्जा, नेवऽन्नेहिं राइं भुंजाविज्जा, राइं भुंजतेऽवि अन्ने न समणुजाणामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि तस्स भन्ते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ॥

छट्ठे भन्ते ! वए उवट्ठिओमि सव्वाओ राइभोअणाओ वेरमणं ॥६॥

इच्चेयाइं पंच महव्वयाइं राइभोअण–वेरमणछट्ठाइं अत्तहियट्ठयाए उवसंपज्जित्ता णं विहरामि ॥

हे भदन्त ! रात्रि भोजन छोड़ना वह छठा महाव्रत है। (ऐसा मैं समझा हूँ। अब) हे भदन्त ! मैं सर्व प्रकार के रात्रि–भोजन का त्याग करता हूँ। अशन, पान, खादिम और स्वादिम, इन चार प्रकार के आहारों में से कुछ भी रात को खाऊँगा नहीं, दूसरे को खिलाऊँगा

नहीं तथा अन्य कोई खाता होगा तो, उसको अनुमति न दूँगा। मैं जीवित रहूँगा तबतक मन, वचन और काया, इन तीनों से मैं रात्रि-भोजन न करूँगा, दूसरे से कराऊँगा नहीं या कोई करता होगा तो उसे अनुमति न दूँगा। हे भदन्त ! भूतकाल में किए गए रात्रिभोजन से मैं वापस आता हूँ, उसकी निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और रात्रिभोजन करनेवाली मेरी आत्मा का त्याग करता हूँ।

हे भदन्त ! सर्व प्रकार के रात्रि भोजन से विमुख होकर मैं छट्ठे व्रत में स्थिर होता हूँ। इस प्रकार ये पाँच महाव्रत और छट्ठ रात्रि-भोजन-विरमण-व्रत, इन सब को आत्महित के लिए स्वीकार करके मैं विहार करता हूँ।

रात्रिभोजन अर्थात् सायंकाल से लेकर दूसरे दिन के सूर्योदय तक कुछ भी खाना नहीं; उसका कारण है अहिंसा का मूल सिद्धांत। इसलिए श्री दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है कि:—

सन्तिमे सुहुमा पाणा तसा अदुव थावरा।
जाइं राओ अपासन्तो कहमेसणियं चरे ॥ १ ॥

धरती पर कई त्रस और स्थावर सूक्ष्म जीव निश्चितरूप से होते हैं; उन जीवों के शरीर रातको दिखाई देते नहीं हैं। तो इर्यासमिति-पूर्वक रातको एषणा कैसे हो सके ? अर्थात् गोचरी लेने के लिए जाया जा सकता नहीं है।

उदओल्लं बीयसंसत्तं पाणा निव्वडिया महिं।
दिया ताइं विवज्जेज्जा राओ तत्थ कहं चरे ? ॥

पानी के कारण धरती भीगी रहती है। धरती पर बीज पड़े हुए होते हैं, चीटी–कीड़ा आदि जीव पड़े हुए हों; उन जीवों की हिंसा से बचना जब दिवस को भी मुश्किल होता है, तब रातको तो कैसे बचा जाय? अतः रात को कैसे चला जाय?

एयं च दोसं दट्ठूणं नायपुत्तेण भासियं।
सव्वाहारं न भुञ्जन्ति निग्गंठा राइभोयणं॥

इन दोषों को देखकर ज्ञातपुत्र यानी श्रमण–भगवान् महावीर ने कहा है कि निर्ग्रंथ सर्व प्रकार के आहारों का रात को भोग न करें।

जैन श्रमणों को रात को भोजन करने का होता नहीं है तथा दूसरे दिन के लिए भी किसी प्रकार का संग्रह करने का नहीं होता है। अतः सायंकाल पूर्व उनके सर्व पात्र स्वच्छ हो जाते हैं।

इस प्रकार पाँच महाव्रतों को तथा छट्ठे रात्रिभोजन–विरमण–व्रत को ग्रहण करना; वह साधु के मूल गुण हैं। अतः वे मन, वचन और काया से उन व्रतों का पालन करते हैं। फिर भी यदि कोई दोष भूल से भी हो जाता है तो वे प्रातः तथा सायं प्रतिक्रमण के समय उसको आलोचना करके तथा उसके लिए उचित प्रायश्चित करके शुद्ध बनते हैं।

: ११ :

चारित्र–निर्माण

जैन श्रमण अपने चारित्र निर्माण के लिए जो जो प्रवृत्तियाँ करते हैं, उन में समिति तथा गुप्ति की प्रवृत्तियां मुख्य हैं। इसलिए उनके बारे में यहाँ कुछ विवेचन करते हैं।

समिति शब्द का मूल अर्थ अच्छी क्रिया होता है। परन्तु परिभाषा से जो क्रिया चारित्र के निर्वाह के लिए सावधान हो कर की जाय, उसे ही समिति कहा जाता है।

गुप्ति शब्द का मूल अर्थ गोपन क्रिया अर्थात् रक्षण की क्रिया होता है। परन्तु परिभाषा से मन, वचन और काया के अशुभ व्यापारों को रोकने के लिए जो क्रिया की जाती है, उसे ही गुप्ति कहा जाता है।

समितियाँ पाँच हैं:—(१) इर्या समिति, (२) भाषा समिति, (३) एषणा समिति, (४) आदान—निक्षेप समिति और (५) पारिष्ठापनिका समिति।

गुप्तियाँ तीन हैं—(१) मनोगुप्ति, (२) वचनगुप्ति और (३) कायगुप्ति।

इन आठ क्रियाओं को अष्ट प्रवचन माता कहा जाता है। क्यों कि उन महाव्रतों स्वरूप प्रवचन को पालन करने में तथा उसकी रक्षा करने में माता जैसा काम करती है।

—यहाँ किसी के मन में यह प्रश्न उठ सकता है कि पाँच महाव्रतों को प्रवचन क्यों कहा जाता है? उसकी स्पष्टता यह है कि श्री जिनेश्वर देवों के सकल प्रवचन का रहस्य पांच महाव्रत हैं। अतः उपचार से उन्हें प्रवचन कहा गया है।

जिनागमों में इन क्रियाओं की बहुत प्रशंसा की गई है। श्री उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है कि:—

एयाओ पञ्च समिइओ, चरणस्स य पवत्तणे।
गुत्ती नियत्तणे वुत्ता, असुभत्थेसु सव्वसा॥

एसा पवयणमाया, जे सम्मं आयरे मुणी ।
खिप्पं सव्व संसारा, विप्पमुच्चइ पण्डिए ॥

ये पाँचों समितियाँ चारित्र के लिये की जाती प्रवृत्तियों के लिए उपयोगी हैं और तीन गुप्तियाँ अशुभ व्यापारों से निवृत्त होने के लिए उपयोगी हैं। इस प्रकार इन आठ प्रवचन माताओं को, जो बुद्धिमान मुनि अच्छी तरह आचार में रखते हैं, वे शीघ्र सर्व संसार से मुक्त होते हैं !

जैन श्रमण इन क्रियाओं का पालन किस प्रकार करते हैं; उन्हें हम क्रमशः देखेंगे ।

इर्यासमिति

इर्यासमिति का पालन करने के लिए जैन–श्रमण निम्न छः नियमों का अनुसरण करते हैं ।

(१) ज्ञान, दर्शन, चारित्र के हेतु से चलते हैं, अन्य हेतु से नहीं।

(२) दिवस के समय दरम्यान चलते हैं; रात को नहीं ।

(३) अच्छे आवागमन वाले मार्ग पर चलते हैं । परन्तु नया मार्ग कि जहां सजीव मिट्टी आदिका संभव हो वहां चलते नहीं हैं ।

(४) ठीक देख कर चलते हैं; बिना देखे नहीं ।

(५) नज़र को नीचे रखकर चार हाथ भूमि का अवलोकन करते हैं; नज़र को ऊँचा रखकर या इधर–उधर देखकर चलते नहीं हैं ।

(६) उपयोग (ख्याल)पूर्वक ही चलते हैं; बिना उपयोग चलते नहीं हैं ।

प्रश्नः—क्या श्रमण किसी वाहन का उपयोग करते हैं ?

उत्तरः—नहीं, क्योंकि वाहन का उपयोग करने से इर्यासमिति के चौथे, पाँचवें और छठे नियम का अनादर होता है।

जैन श्रमण अहिंसादि पंचमहाव्रतमय संयमजीवन के पालन तथा लोकोपकार के लिए गाँव गाँव पाद विहार कर रहे हैं। उन के साथ साधुजीवन के लिए आवश्यक पोथी, पात्र, कम्बल आदि सामग्री बाँधी हुइ है।

प्रश्नः—कोई आवश्यक कार्य हो तो श्रमण रात्रि को विहार कर सकते हैं ?

उत्तरः—नहीं, क्योंकि श्रमणों के लिए आवश्यक काम संयम का पालन है। अतः रात्रि को विहार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। तथा ऐसा करने से इर्यासमिति के सभी नियमों का अनादर होता है।

प्रश्नः—चलते समय ठीक ठीक ध्यान रखने पर भी कोई जीव पैरों तले कुचल जाय, तो श्रमण को क्या करना चाहिए ?

उत्तरः—यदि श्रमण को पता चले कि चलते समय अपने पैरों के नीचे कोई जीव कुचल गया है, तो उसके लिए वे अत्यंत दुःख व्यक्त करें तथा गुरु के पास प्रायश्चित करें।

प्रश्नः—देहचिंता के लिए यदि श्रमण को रात्रि के समय बस्ती से बाहर जाना आवश्यक हो तो क्या करें ?

उत्तरः—श्रमणों के जीवन का निर्माण ही इस प्रकार होता है कि उन्हें यथासंभव रात्रि को देहचिंता होती ही नहीं है। फिर भी अनिवार्य कारणों को लेकर ऐसी परिस्थिति उपस्थित हो तो वे रजोहरण से भूमि की प्रमार्जना कर के ही कदम रखें।

भाषासमिति

भाषासमिति का पालन करने के लिए जैन श्रमण निम्नलिखित नियमों का पालन करते हैं।

(१) क्रोध से बोलते नहीं हैं।

(२) अभिमान पूर्वक बोलते नहीं हैं।

(३) छल से बोलते नहीं हैं।

(४) लोभ से बोलते नहीं हैं।

(५) हास्य से बोलते नहीं हैं।

(६) भय से बोलते नहीं हैं।

(७) वाक्चातुरी से बोलते नहीं हैं। तथा

(८) विकथा करते नहीं हैं। यहाँ विकथा शब्द से स्त्रीकथा भक्तकथा, देशकथा और राजकथा समझना है। स्त्री कथा अर्थात् स्त्रियों के प्रति आसक्ति उत्पन्न हो ऐसा स्त्रीसंबन्धी वार्तालाप, भक्तकथा यानी भोजन के प्रति आसक्ति उत्पन्न हो ऐसा वार्तालाप, देशकथा यानी लोगों के विभिन्न रिवाजों और व्यवहारों के प्रति दिलचस्पी पैदा हो ऐसा वार्तालाप और राजकथा अर्थात् राजाओं के वैभव–विलास के प्रति दिलचस्पी पैदा हो ऐसा वार्तालाप।

जैन–श्रमण भाषा समिति का पालन करने के लिए अति कठोर भाषा का उपयोग करते नहीं हैं। इसलिए श्री दशवैकालिक सूत्र में स्पष्ट कहा है कि :—

तहेव काणं काणत्ति, पंडगं पंडगत्ति वा।
वाहिअं वा विरोगित्ति, तेणं चोरेत्ति नो वए॥

उसी प्रकार काने को काना, नपुंसक को नपुंसक व्याधि–ग्रस्त को रोगी तथा चोर को चोर कहना नहीं चाहिए। उसे भी सुन्दर शब्दों द्वारा ही बुलाना चाहिए। इसी कारण जैन श्रमण किसी को बुलाते समय "महानुभाव", "महाशय" "देवानुप्रिय", इत्यादि शब्दों का प्रयोग करते हैं।

जैन श्रमण भाषासमिति का पालन करते हुए पापकारी भाषा का कभी उपयोग करते नहीं हैं। जैसे कि उद्यान, पर्वत या वन में बड़े वृक्षों को देखकर कहना कि—'ये वृक्ष खंभे किए जा सके ऐसे हैं। ये वृक्ष घर बाँधने के योग्य हैं। उनका आगवा किया जा सकता है। ये नौका बनाने योग्य हैं। यह रेंहट बनाने योग्य हैं। अथवा उनके पाट बन सकते हैं,'—तो वह भाषा सावद्य या पापकारी है। क्योंकि वह वृक्षों के जीवों को पीड़ा पहुँचाने वाली है। ऐसे स्थान पर बोलने की आवश्यकता होगी तो श्रमण बोलेंगे कि, ये वृक्ष लम्बे हैं; गोल हैं, विस्तार वाले हैं, शाखाओं से युक्त हैं, इत्यादि। इसी प्रकार फल को देखकर यह कहना कि—ये फल पक गए हैं, पका कर खाने योग्य हैं। वे काटने योग्य हैं, तो वह भाषा सावद्य है। उसी स्थान पर आवश्यकता पड़ने पर श्रमण बोलेंगे कि 'ये वृक्ष फलों से झुक गए हैं। इस वृक्ष पर फल बहुत बड़े हो गए हैं अथवा इस वृक्ष के फल अपने रंग में आ गए हैं।' उसी प्रकार खेत में धान्य देखकर कहना कि 'यह धान्य काटने योग्य हो गया है। वह शेंकने योग्य हो गया है,' तो वह सावद्य भाषा है। ऐसे स्थान पर यदि आवश्यक होगा तो श्रमण ऐसा कहेंगे कि 'इस धान्य को बहुत समय हो गया है। यह फसल स्थिर हुई है,' इत्यादि। उसी प्रकार नदी को देख कर यह कहना कि 'नदी तैर कर पार करने जैसी है या तट पर पशु पानी पी सके ऐसी है' तो वह सावद्य भाषा है। उसी स्थान पर यदि बोलने की आवश्यकता पड़ेगी तो श्रमण कहेंगे कि 'यह नदी अधिक प्रमाण में भरपूर है। अधिक गहरी है या बहुत विस्तार वाली है।' उसी प्रकार जानवरों को देखकर

कहना कि 'वे अधिक मांसवाले हैं मेदसम्पन्न हैं, काटने योग्य हैं, पकाने योग्य हैं अथवा ये गायें दुहने योग्य हैं ये बछड़े नथने योग्य हैं।' तो वह भाषा सावद्य भाषा है। ऐसे स्थान पर यदि बोलना आवश्यक होगा तो श्रमणों को इस प्रकार बोलना चाहिए कि 'यह जानवर बड़ा हुआ है; उम्रलायक हुआ है,' इत्यादि।

जैन श्रमण सावद्य भाषा का परिहार करने के लिए नीचे लिखे वाक्यों का कभी प्रयोग नहीं करते हैं। 'बहुत अच्छा पकाया, खूब काटा, खूब ले गया, बिलकुल मर गया, ठीक पूरा हुआ, इसे बेचना नहीं, इसे खरीद करो, इसे खरीदना नहीं, आओ, आना, बैठो, करो, सोओ, खड़े रहो, खाओ, पीओ, तुम्हारी जय हो, तुम्हारी पराजय हो,' इत्यादि। क्योंकि इससे उसमें पाप का अनुमोदन रहा हुआ है। संक्षेप में जिन शब्दों से पापकारी प्रवृत्तियों का भाव व्यक्त होता हो या समर्थन होता हो, ऐसा बोलना वह सावद्य भाषा है। केवल वर्णन के रूप में प्रतिपादन के रूप में मध्यस्थ वृत्तिवाला बोलना वह निरवद्य भाषा है।

फिर जैन श्रमण भाषा समिति का पालन करने के लिए निश्चयकारी भाषा बोलते नहीं हैं। क्योंकि उसमें झूठा पड़ने की संभावना रही हुई है। उदाहरण स्वरूप किसी काम के बारे में वार्ता चल रही हो, ओर ऐसा कहना कि 'यह काम अवश्य होगा ही। मैं अवश्य करूँगा, वह अवश्य करेगा;' वह भाषा निश्चयकारी भाषा है। अतः जैन-श्रमण इस प्रकार नहीं बोलेंगे। वहाँ बोलने की आवश्यकता पड़ेगी तो वे ऐसा कहेंगे कि यह काम होने की संभावना है। यथासंभव मैं

करूँगा। यथा शक्य वह कर सकेगा,' इत्यादि। ऐसी भाषा को सापेक्ष भाषा कहा जाता है।

तदुपरांत जैन श्रमण भाषासमिति का पालन करने के लिए बिना प्रयोजन बोलते नहीं हैं। और प्रयोजन पर आवश्यतानुसार बोलते हैं अर्थात् उनका वाणी–व्यवहार परिमित होता है।

जैन–शास्त्रों में सत्य बोलने का अर्थ होता है कि प्रिय बोलना, पथ्य बोलना और तथ्य बोलना। अतः जैन श्रमण मधुर वाणी का प्रयोग करते हैं। हितकारी ही बोलते हैं; और जो चीज जिस प्रकार की हो; उसी रूप में उसे कहते हैं।

एषणा समिति

एषणासमिति का विवेचन करने के पहले एषणा किसे कहा जाता है उसकी स्पष्टता करेंगे। श्री उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है कि:—

गवेसणाए गहणे य, परिभोगेसणाय ए।
आहारोवहिसेज्जाए, एए तिन्नि विसोहए॥

आहार, उपधि तथा शय्या इन तीन वस्तुओं की गवेषणा, ग्रहण और परिभोग के बारे में पूरी पूरी शुद्धता रखना वह एषणा है।

आहार के चार प्रकार है,–अशन, पान, आदिम और स्वादिम उसमें प्रयोजन के अनुरूप ग्रहण किए जानेवाले औषध का भी समावेश होता है। उपधि का अर्थ है वस्त्र, पात्र इत्यादि साथ में रखी जानेवाली वस्तुएँ। तथा शय्या में आते हैं पाट, और ठहरने का स्थान। जैन–श्रमण इन चीजों को ढूंढकर ही प्राप्त करते हैं। अतः इसलिए सदाव्रत, भोजन

शाला, अमूक गृहस्थ के यहाँ वास करना इत्यादि किसी नियत—व्यवस्था को स्वीकार न करते हुए भिक्षाचरी करते हैं और उस समय नीचे लिखे नियमों का पालन करते हैं।

(१) जो आहार या चीज़ श्रमण के लिए ही बनाई गई हो उसे लेते नहीं हैं।

(२) जिस आहार या चीज श्रमण का उद्देश रख कर तैयार की गई हो, उसे लेते नहीं हैं।

(३) जो आहार अकल्प्य के संसर्ग में आया हो, उसे लेते नहीं हैं। पिंड़निर्युक्ति में उसे अध्यवपूरक नामक दोष बताया गया है।

(४) जो आहार या वस्तु अपने परिवार तथा श्रमणों को लक्ष में रखकर बनाई हो उसे लेते नहीं हैं।

(५) जो आहार या चीज़ श्रमणों के लिए कुछ समय से रखी हुई हो, उसे लेते नहीं हैं।

(६) जो आहार या चीज़ विशेष करके दान के लिए तैयार की गई हो, उसे लेते नहीं हैं।

(७) जो आहार या चीज़ अंधेरे में पड़ी हो, और उसे देने के लिए विशेष करके दीप प्रकट किया जाय या अन्य किसी प्रकार प्रकाश किया जाय तो उसे लेते नहीं हैं।

(८–१२) जो आहार या चीज़ श्रमणों को देने के लिए विशेष कीमत दे कर खरीद की गई हो, उधार ली गई हो, विनिमय करके लाई गई हो, दूसरे के पास से हड़प ली गई हो, उसे श्रमण लेते नहीं हैं।

(१३) जिस आहार या चीज़ को सामने से लाया गया हो, उसे लेते नहीं हैं।

(१४) जो आहार या चीज़ किवाड़ खोलकर या मजले से उतार कर लाया गया हो, उसे लेते नहीं हैं।

(१५) जो आहार या चीज़ साझीदार की अनुमति के बिना दी जाय तो उसे लेते नहीं हैं।

(१६) जो आहार या चीज़ श्रमण के आगमन का पता पाकर अधिक पानी वगैरह डालकर बनाई गई हो, तो उसे लेते नहीं हैं।

जैन श्रमण निम्नानुसार या नीचे लिखी परिस्थिति में किसी भी प्रकार का आहार या वस्तु ग्रहण करते नहीं हैं।

(१७) बालक को खेल खिलाकर।

(१८) दूती की तरह सगे–सम्बन्धियों के समाचार कह कर।

(१९) निमित्त–ज्योतिष्य कहकर।

(२०) ज्ञाति या जाति बताकर, जैसे कि मैं अमुक ज्ञाति या जाति का हूँ या संसार पक्ष से हम अमुक सगे होते हैं।

(२१) निर्धनता दीनता बताकर, जैसे कि आप नहीं देंगे तो हमें और कौन देगा?

(२२) दवा करके। (२३) क्रोध करके।

(२४) अहंकार करके। (२५) छल करके।

(२६) लोभ करके। (२७) गुणों का गान करके।

(२८) विद्या, कामण या वशीकरण करके।

(२९) मंत्र क्रिया करके अर्थात् मंत्र–तंत्र द्वारा।

(३०) गोली, चूर्ण आदि के नुस्खे बताकर।

(३१) सौभाग्य–दुर्भाग्य बताकर

(३२) गर्भ पड़ा करके।

(३३) जिसकी निर्दोषता की पूरी प्रतीति न हुई हो।

(३४) हाथ सचित्त (सजीव) वस्तु से बिगड़ा हुआ हो और आहार या वस्तु दी जाय।

(३५) आहार या चीज़ किसी सचित्त पदार्थ पर रखी गई हो।

(३६) आहार या चीज़ पर कोई सचित्त पदार्थ रखा गया हो।

(३७) आहार या चीज़ सचित्त से स्पर्श करती हो।

(३८) दाता अंध या पंगू हो। क्योंकि वह हलन–चलन करके वहोराएगा तो अयतना होने की संभावना है।

(३९) वस्तु पूरी पूरी अचित्त (निर्जीव) न हुई हो अर्थात् कच्ची–पक्की

(४०) सचित्त और अचित्त वस्तु एक साथ मिली हो।

(४१) कोई अयतना से वहोराता हो।

(४२) तुरन्त के लींपे पोते आंगन पर से चलकर आया हो।

प्रश्नः—श्रमण भिक्षा मांगने के लिए कहाँ कहाँ जाते हैं?

उत्तरः—श्रमण भिक्षा लेने के लिए क्षत्रिय, ग्वाल, वैश्य, कृषिकार आदि अ–तिरस्कृत तथा अनिंदित कुलों में जाते हैं। परन्तु चक्रवर्ती, राजा, ठाकोर, राजा के पाशवान और राजा के सगे सम्बन्धियों के यहाँ नहीं जाते; चाहे वे नगर में रहते हों, बाहर अपना डेरा डाला हो या मार्ग पर प्रयाण करते हों। निमंत्रण मिला हो या न मिला हो। जिस घर में हमेशा अन्न–पान दिया जाता हो या शुरू में

देवों के लिए अग्निपिंड अलग निकाला जाता हो और उसी कारण जहाँ कई याचक एकत्र होते हों, वहाँ भी श्रमण भिक्षा लेने के लिए जाना पसंद नहीं करते।

प्रश्नः——श्रमण किसी गृहस्थ के बंध द्वार को खोलकर भीतर जा सकते हैं?

उत्तरः——नहीं वे इस प्रकार नहीं जा सकते हैं। श्री दशवैकालिक सूत्र में स्पष्ट कहा है कि **'कवाडं नो पणोलेज्जा'** श्रमणों को किवाड़ खोलना नहीं चाहिए। ऐसा करने से उसके नीचे रहे हुए सूक्ष्म जीव–जंतु की विराधना होती है और संभवतः घर मालिक की अकृपा भी सहनी पड़ती है। ऐसी स्थिति उत्पन्न करना, वह साधु के लिए उचित नही है।

प्रश्नः——श्रमण भिक्षा के लिए जहाँ जाते हैं, वहाँ क्या वे बैठ सकते हैं?

उत्तरः——नही, भिक्षा के लिए जाने वाले श्रमण के लिए यह उचित नहीं है। ऐसा करने से गृहस्थ को एक तरह की मुश्किल होगी तथा संकोच होने की संभावना है या कोई समय सन्देह भी हो सकता है। इस के उपरान्त अन्य दोष भी होने की संभावना रहती है। इसीलिए श्री दशवैकालिक सूत्र में कहा है कि–

गोयरग्गपविट्ठो उ न निसीएज्ज कत्थई।

गोचरी के लिए प्रवेश करने वाले श्रमण को कहीं बैठना नहीं चाहिए।

प्रश्नः—श्रमण भिक्षा के लिए जाय, उस समय यदि वहाँ अन्य कई भिक्षुक खड़े हों तो क्या किया जाय ?

उत्तरः—श्रमण ऐसे भिक्षुकों को पार करके किसी घरमें प्रवेश न करें। क्योंकि इससे उनको दखल होगी तथा उनके मनमें सन्देह होगा कि अब हमें भिक्षा—मिलेगी या नहीं ? किसी के मनमें इतने समय के लिए भी क्लेश न हो इस लिए जैन—श्रमण इन नियमों का बराबर पालन करते हैं।

प्रश्नः—वर्षा होती हो, उस समय श्रमण गोचरी के लिए जा सकते हैं ?

उत्तरः—न जायं। इस लिए श्री दशवैकालिक सूत्र में बताया है कि :

न चरेज्ज वासे वासन्ते महियाए व पडन्तिए।
महावाए व वायन्ते तिरिच्छ—सम्पाइमेसु वा ॥

वर्षा होंती हो, कुहरा पड़ रहा हो, महावायु चल रहा हो या सूक्ष्म जंतु उड़ रहे हों; उस समय श्रमणों को भिक्षा के लिए न जाना चाहिए।

प्रश्नः—वर्षा लगातार होती हो, तो श्रमण क्या करें ?

उत्तरः—भिक्षा के लिए बाहर न निकलें, और अपने स्थान पर रह कर धर्म—ध्यान और तपश्चर्या करें !

आदान—निक्षेप—समिति

जिस चीज़ का नित्य उपयोग होता हो, उसकी प्रमार्जना करके उपयोग करना चाहिए। उसके आदान—प्रदान यानी लेने—रखने में बड़ी

सावधानी रखनी चाहिए; किसी प्रकार की लापरवाह नहीं करनी चाहिए, यह इस समिति का रहस्य है। अतः जैन–श्रमण प्रातःकाल प्रतिक्रमण करने के बाद मुँहपत्ती, चोलपटा, ऊनीकल्प, सूत के दो कल्प, रजोहरण के भीतर का निसिज्ज, ओघा, संथारा, उत्तरपट्टा और दंड–इन ग्यारह चीज़ो की प्रतिलेखना यानी सूक्ष्म दृष्टि से देखने की क्रिया करते है तथा दिवस के तीसरे प्रहर के अंत में मुँहपत्ती, चोलपटा, गोच्छा, पात्रलेखनिका, पात्रबंध, पड़ले, रजस्त्राण, पात्रस्थापन, मात्रक (भिक्षा में चीज देखने आदि का पात्र) पातरा,रजोहरण, ऊनका कल्प और सूत के दो कल्प, इस प्रकार १४ वस्तुओं की प्रतिलेखना करते हैं। तथा दिवस दरम्यान आसन, शय्या, वस्त्र, पात्र, पुस्तक, इत्यादि को लेने–रखने का व्यवहार बहुत सावधानी से करना चाहिए उसे फेंकना या घसीटना नहीं चाहिए।

पारिष्ठापनिका समिति

इस समिति को उच्चार समिति भी कहा जाता है। उसका रहस्य यह है कि मल, मूत्र, श्लेष्म, थूक, केश या अन्य परिष्ठापन करने योग्य वस्तुअें जीवजंतु रहित, जहाँ हरियाली न हो, ऐसी भूमि में छोडनी चाहिए। धर्मरुचि नामक एक अणगार कडुवी तूंबडी का साग परिष्ठापन करने योग्य माद्दम होने से एक स्थल को गए और वहाँ साग का एक बिन्दु नीचे डालते ही कई जीवों को मरते हुए देखा। अतः अपने उदर को ही निरवद्य स्थान मानकर सभी साग को अपने उदर में ही ड़ाल दिया और कुछ ही क्षण में कालधर्म प्राप्त किया। कहने का भावार्थ यह कि जैन श्रमण परिष्ठापन करने योग्य चीजों के

प्रति भी इतना ध्यान रखते हैं और आवश्यकता पड़ने पर अपने प्राण की भी आहुति दे देते हैं।

मनोगुप्ति

संरंभ, समारंभ और आरंभ इन तीन चीज़ों में मन को जाने न देना, वह मनोगुप्ति है।

प्रश्नः—संरंभ का क्या अर्थ है?

उत्तरः—छः काय जीवका आरंभ यानी हिंसा जिसमें होती हो वैसी किसी भी क्रिया का संकल्प करना; वह संरंभ है।

प्रश्नः—समारंभ का तात्पर्य क्या है?

उत्तरः—उस संकल्प को कार्यान्वित करने के लिए साधन एकत्र करना, वह समारंभ है।

प्रश्नः—आरंभ क्या है?

उत्तरः—उस कार्य का प्रयोग करना; उसे आरंभ कहा जाता है।

तात्पर्य कि जैन–श्रमण मनोगुप्ति का पालन करने के लिए कोई भी हिंसक प्रवृत्ति करने की ओर अपने मन को जाने देते नहीं हैं।

वचन–गुप्ति

संरंभ, समारंभ या आरंभ के लिए बोले जाते वचनों को उपयोगपूर्वक रोक रखना; वह वचन–गुप्ति है।

प्रश्नः—भाषा समिति और वचन–गुप्ति में क्या अंतर है?

उत्तरः—भाषा समिति में यह विवेचन है कि भाषा किस प्रकार से बोली जाय, जब वचन–गुप्ति में तो संरंभादि प्रवृत्ति के विषय में न बोलने का प्रयत्न करना है। और निष्पाप शुभ वचन की प्रवृत्ति करनी है।

काय–गुप्ति

खड़े रहने में, सोने में, खड्डे को पार करने में तथा पांचों इन्द्रियों के व्यापार में काया को सावद्य योग में जाने नहीं देना वह कायगुप्ति है।

इन तीनों गुप्तियों की आराधना के लिए कायोत्सर्ग उत्तम साधन है। अतः जैन श्रमण जब भी अनुकूलता होती है, तब कायोत्सर्ग करते हैं।

प्रश्नः—कायोत्सर्ग किसे कहा जाता है?

उत्तरः—कायोत्सर्ग का सामान्य अर्थ तो काया का उत्सर्ग यानी काय–व्यापार का त्याग करना होता है। परन्तु परिभाषा द्वारा काया को एक जगह स्थापित करके, वाणी को मौन करके तथा मनको ध्यान में लगाकर स्थिर खड़े रहना, स्थिर बैठना, उसे कायोत्सर्ग कहा जाता है। यह एक प्रकार की ध्यानावस्था है कि जिसकी नित्य–नियमित अमुक समय तक आराधना करने से देह की जड़ता नष्ट होती है, मति की शुद्धि होती है, सुख–दुःख सहने की शक्ति आती है, सूक्ष्म चिंतन करने की योग्यता प्रकट होती है तथा कर्म–समूह झड़ जाता है।

इस प्रकार जैन–श्रमण पांच समितियों तथा तीन गुप्तियों के पालन से अपने चारित्र को चारु बनाते हैं और उसके द्वारा कर्म का क्षय करके अभीष्ट फल यानी मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

अनिह्नवताः—गुरु और ज्ञान का अपलाप न करना अर्थात् ज्ञान देने वाले गुरु का, गुरुरूप से इनकार न करना या उन का नाम छीपा कर ऐसे ही अन्य गुरु का नाम न देना। एवम् ज्ञान के बारे में भ।

जो सुना और पढ़ा हो, उतना ही कहना चाहिए कम या अधिक नहीं। जैन श्रमण इस नियम का बहुत सख्ताई से पालन करते हैं।

व्यंजनशुद्धि : अर्थात् सूत्र के पाठ में जो अक्षर हों, उन्हें उसी प्रकार ग्रहण करना, कम या अधिक नहीं। सूत्र के एक भी अक्षर को इधर–उधर करने से काना, मात्रा, अनुस्वार इत्यादि परिवर्तित रूप में ग्रहण करने से उस के अर्थ में बड़ा परिवर्तन हो जाता है। और इस से महान आशातना तथा सर्वज्ञ की आत्मा का अनादर करने का दोष प्राप्त होता है। अतः जैन श्रमण गुरु से शास्त्र–पाठ ग्रहण करते समय बहुत ध्यान रखते हैं।

अर्थशुद्धि : अर्थात् सूत्र या शब्द का अर्थ जिस प्रकार होता हो, उसी प्रकार ग्रहण करना चाहिए, अन्य प्रकार से नहीं, क्योंकि इससे अनर्थों की परम्परा होती है। इसलिए जैन शास्त्रों में निम्न लिखित उदाहरण दिया गया है:–

शुक्तिमती नगरी में कदम्बक नामक उपाध्याय रहते थे ! वे अपने पुत्र पर्वत को, राजा के पुत्र वसु को तथा नारद नामक एक विद्यार्थी को शास्त्राध्ययन कराते थे। एक समय ये तीनों विद्यार्थी पढ़ाई के बाद मकान के बरंडे में सो गए थे। उस समय आकाश मार्ग से गमन करने वाले दो चारण मुनि परस्पर बोले:–इन तीन विद्यार्थियों में से एक विद्यार्थी स्वर्ग जायेगा और दो विद्यार्थी नर्क में। उस समय उपाध्यायजी जगते थे। उन को यह वृत्तांत सुनकर बड़ा खेद हुआ। उन्होंने विचार किया कि "मुझे धिक्कार है कि मैं पढ़ाने वाला होने पर भी मेरे दो शिष्य नर्क में जायेंगे।" बाद में प्रातः काल को इन शिष्यों में से कौन स्वर्ग में जायेगा

और कौन नर्क में; यह पता लगाने के लिए उन्होंने इन शिष्यों का आटे से बनाया हुआ कुक्कुट दिया और कहा कि "जिस स्थान पर कोई देख न पाये; उस स्थान पर इसे मार डालो। यह सुनकर वसु और पर्वत ने निर्जन प्रदेश में जा कर कुक्कुट को मार डाला, परन्तु नारद ने विचार किया कि यह निर्जन प्रदेश होने पर भी यहाँ मैं देखता हूँ, देव देखते हैं, सिद्ध देखते हैं और ज्ञानी भी देखते हैं। जिस स्थान पर कोई न देखे, ऐसा स्थान तो विश्व में कहीं भी नहीं है। इस से गुरु के अभिप्राय के अर्थ का पता चलता है कि कुक्कुट अवध्य है। और उसने उसे मारा नहीं।

बाद में ये तीनों शिष्य गुरु समीप गए और अपना अपना वृत्तांत सुनाया। अतः नारद को स्वर्ग का अधिकारी समझ कर अपनी छाती से लगाया और अन्य दोनों को उपालम्भ दिया। बाद में वैराग्य से वासित हो, प्रव्रज्या ग्रहण की और उन के स्थान पर उन का पुत्र पर्वत आया तथा राजाने भी दीक्षा ली तो उस के स्थान पर उस का पुत्र वसु सिंहासन पर आया। यह वसु सत्यवादी के रूप में विख्यात होने के लिए सत्य ही बोलता था।

एक समय उसे किसी शिकारी द्वारा स्फटिक मणि की एक बड़ शिला का पता चला। उसने उसे प्राप्त किया। उस की एक आसन वेदिका बनवाई और उसे बनाने वाले शिल्पियों को उसने मार डाला। बाद में उस आसन–वेदिका को सिंहासन के नीचे रख कर वह सत्यवादी होने के कारण अपना सिंहासन आकाश में निराधार रहता है, ऐसी ख्याति सर्वत्र फैला दी। उस ख्याति को लेकर कई राजाओं ने उसे देव–कृपा से अधिष्ठित समझ कर उस की शरण को स्वीकार किया।

अब एक समय पर्वत उपाध्याय अपने शिष्यों को पढ़ा रहे थे; उस वक्त उन्होंने "अजैर्यष्टव्यम्" ऋग्वेद की इस श्रुति का अर्थ अज यानी बकरे का यज्ञ करना, इस प्रकार किया। यह सुनकर उस से मिलने के लिए आये हुए उसके मित्र नारद बोले कि "हे भाई! तू ऐसा अर्थ न कर, क्योंकि जो बोने पर भी उगता नहीं है, उसे 'अज' कहा जाता है। अतः यहाँ 'अज'का अर्थ तीन वर्ष से अधिक समय की डांगर (चावल) होता है। हमारे गुरु ने भी ऐसा ही कहा है। अतः धर्मोपदेष्टा गुरु तथा धर्मप्रतिपादक श्रुति का उलटे अर्थ में प्रयोग न कर।"

इस प्रकार बहुत कहने पर भी पर्वत ने आग्रह को न छोड़ा। आखिर उन्होंने वाद करने का निश्चय किया और शर्त की जो पराजित हो उसकी जिह्वा काट दी जाय। बाद में वसु राजा को गवाह बनाकर वाद विवाद शुरू किया। उसमें वसु राजा ने पर्वत की माता के आग्रह से झूठी गवाही दी। और यह घोषणा की गई कि "अज" का अर्थ बकरा होता है। परन्तु धोखा किसी का सगा नहीं होता। अतः देवों ने तुरन्त ही उसे सिंहासन से नीचे फेंक दिया और वह रक्त का वमन करता हुआ नर्क में गया। दूसरी ओर नगर के लोगों ने पर्वत को असत्य-वादी समझ कर उसका तिरस्कार किया और उसे नगर से बाहर निकाल दिया। तात्पर्य यह है कि एक शब्द के भी अर्थ को पलट देने से महा अनर्थ होता है।

जब सूत्रार्थ की परिपाटी का पालन नहीं किया जाता है तब अनुमान से अर्थ करने का अवसर खड़ा होता है और इससे कभी कभी

कल्पनातीत विषम परिस्थिति खड़ी होती है। इस बात को हम एक ऐतिहासिक उदाहरण द्वारा और स्पष्ट करेंगे :—

गौतम बुद्ध अपने आखिरी दिनों में वैशाली से पावा (पडरौना, जिला देवरिया) आए। तब वे अस्वस्थ थे। अपने अनुनायियों के साथ चंड (चुंद) लोहार के उद्यान में रहते थे। उसने उन्हें अंतिम बार भोजन कराया। उसे **"शूकर माधवम्"** की संज्ञा दी गई है। परन्तु **"शूकर माधवम्"** का वास्तविक अर्थ क्या होता है? उस की स्पष्टता बौद्ध शास्त्रों में नही होती है। अतः किसी टीकाकर ने उसका अर्थ बाल-सूअर का पकाया गया मांस किया तो किसी ने उसका अर्थ गवपान यानी पंचगोरस से तैयार किया गया मृदु अन्न लगाया। कोई उसे एक प्रकार का रसायण बताते हैं कि जिसे देने से तुरन्त ही मृत्यु न हो, तो कोई उस का अर्थ **वंशकलीर** अर्थात् वांस का अंकुर करते हैं। कोई उस का अर्थ **'अहिच्छत्तक'** यानी बिल्ली का टोप करते हैं। इन अर्थों में से हम किस अर्थ को वास्तविक समझें,—यह एक विषम समस्या है। बुद्ध चरित्र के लेखक अध्यापक धर्मानन्द कोसम्बी कहते हैं कि भगवान् बुद्ध को अहिंसा की अतिव्यापक व्याख्या, कि जो जैन करते हैं, पसंद न थी। उनका कहना था कि जानबूझ कर निर्दयता से किसी प्राणी को वध न करना चाहिए। परन्तु कोई गृहस्थ यदि उन्हें निमंत्रण देता तो वे उस के यहाँ जा कर मांस का भोजन करते थे जो कि उन्होंने अपने लिए विशेष रूप से पशु को मार के भोजन तैयार करने के लिए अपने उपासकों को मनाह की थी। वे सूकर माधवम् या सूकर मद्दवम् के विभिन्न अर्थों को जानने के बाद कहते हैं कि:—

" यहाँ सूकर मद्दवम् का मुख्य अर्थ सूकर मांस ही किया गया है। फिर भी पता चलता है कि वह पदार्थ किस प्रकार का था, वह बुद्ध घोषाचार्य भी जानते न थे। यह तो निश्चित है कि उसके अर्थ के बारे में भारी मतभेद था। इस पर से यह नहीं समझना है कि भगवान् बुद्ध सूकर मांस खाते ही नहीं थे। अंगुत्तर निकाय के पंचक निपात में यह उल्लेख आता है कि उग्र (उग्ग) गृहपति द्वारा दिये गए सूकर मांस को बुद्धने स्वीकार किया था। अतः भगवान् बुद्ध ने परिनिर्वाण के पहले सूकर मांस की भिक्षा ली हो, तो उसमें कोई आश्चर्य नहीं है। परन्तु उन्होंने वह अतिशय लिया; इस कथन का थोड़ा भी समर्थन नहीं मिलता। अतः हमें यह समझना चाहिए कि वह कुत्सित लोगों द्वारा दुष्ट बुद्धि से की गई टीका है। बुद्धदेव कभी अपनी मर्यादा से अधिक खाते न थे। और इस समय भी उन्होंने यह पदार्थ यथानियम ही लिया था। परन्तु वायातीत होने से तथा तीन मास पूर्व ही वैशाली में गंभीर बीमारी बीताने के कारण वे इस पदार्थ को पचा न सके। अतः उस रात को उन्होंने परिनिर्वाण पाया।"

अध्यापक कोसम्बी ने इस विषय की चर्चा करते हुए प्रारंभ में कहा है कि बौद्ध धर्म के विरोधी लोग ऐसी टीका करते हैं कि परिनिर्वाण के पहले बुद्ध ने चुंद लोहार के यहाँ सूकर मँास खाया और उसे पचा न सकने के कारण मृत हुए। फिलहाल भारत में मांसाहार के सम्बन्ध में प्रतिकूल मान्यता होने से यह स्वाभाविक है कि उस टीका को पढ़नेवाले आमलोग बुद्ध भगवान् तथा उनके धर्म की

* देखिये महापरिनिब्बाण सूत्र तथा उदान सूत्र की अट्ठ कथा (टीका)

निंदा करें। अतः बुद्ध भगवान् के समय में मांसाहार की प्रथा किस प्रमाण में थी और विरोधी टीकाकारों के कथन में क्या तथ्य है; यही इस लेख में बताया गया है। अतः यह स्पष्ट होता है कि उन्होंने उक्त चर्चा टीकाकारों को उत्तर देने के लिए की है। परन्तु सुज्ञ पाठक पता लगा सकेंगे कि वे टीका का वास्तविक उत्तर नहीं दे सके हैं। जो लोग कहते हैं कि परिनिर्वाण के पहले चुंद लोहार के यहाँ डूक्कर का मांस खाने से और अजीर्ण होने से बुद्धदेव की मृत्यु हुई, उसमें और ऊपर जो विधान किया गया है, उसमें क्या अंतर है? वायातीत होने से और उन्होंने बिमारी भोगी है अतः वे इस पदार्थ को पचा न सके, इससे अजीर्ण हुआ यह स्पष्ट है, इसमें केवल भाषा का ही अंतर है। भाव में कोई अंतर नहीं पडता। यहाँ हमें एक सरकारी पदाधिकारी की एक घटना का स्मरण हो आता है। उन्हें कुछ व्यक्तियों की ओर से शिकायत की गई कि अमूक जिले में अकाल के लेकर कई आदमी मर गए। इसके लिए सरकार जिम्मेदार है। परन्तु वह अधिकारी यह जिम्मेवारी अपने शिर पर ले, वैसा न था। तब उसने तुरन्त ही उत्तर दिया कि यह बात गलत है। वे अनाज खरीदने की शक्ति वाले न थे और भूखमरी के कारण मृत्यु के सामने टीक रहने के लिये समर्थ न थे, अतः मर गए। अध्यापक केासम्बी का कथन भी क्या ऐसा ही नहीं लगता है?

इससे भी अधिक खेद की बात तो यह है कि गौतम बुद्ध के मांसाहार का बचाव करनेके लिए अन्य केाई तरीका न मिलने से उन्हों ने उसी लेख में समकालीन जैन श्रमण कि जो अहिंसा की शुद्ध–सुन्दर

उपासना कर रहे थे, और श्रमण भगवान महावीर कि जो अहिंसा के अद्वितीय उपासक के रूपमें सारे भारत वर्ष में सुविख्यात हुए थे, और जिनकी अमृत वर्षिणी उपदेशधाराने हिंसा की बुनियाद को डाँवा-डोल कर दिया था, उन पर ही मांसाहार का आक्षेप लगाया है।

यदि अध्यापक कोसम्बीने स्वयं दशवैकालिक सूत्र पर दृष्टिपात किया होता, तो उस में पहला ही सूत्र वे पढ़ सकते कि **'धम्मो मंगल-मुक्किठं अहिंसा संजमो तवो'**—अहिंसा, संयम और तप रूपी धर्म उत्कृष्ट मंगल है। वह अहिंसा उनके द्वारा वर्णित भगवान बुद्ध के जीवन की अहिंसा जैसी पोली न थी, परन्तु इतनी विस्तृत थी कि उस में पृथ्वी, पानी, वायु, अग्नि, वनस्पति और सभी चल—अचल प्राणियों के मन, वचन और काया से अतिपात न करने का विधान था। इसीलिए समकालीन जैन श्रमण हलन—चलन तथा खड़े होते, बैठते एवम् शयन या भोजन करते समय सूक्ष्म से सूक्ष्म जीव की भी हिंसा न हो, उसका पूरा ध्यान रखते हैं।

यदि अध्यापक कोसम्बी ने प्रश्नव्याकरणसूत्र का संवरद्वारा देखा होता तो उन को पता चलता कि जैनों की अहिंसा में मध एवम् मांस तक का निषेध है। उन्होंने सूत्रकृतांग सूत्र का द्वितीय श्रुतस्कंध देखा होता तो उन्हें जैन श्रमणों के गुणों में **अमज्जमंसासिणो** अर्थात् मध और मांस का भक्षण न करने वाले, ऐसे स्पष्ट शब्दों के दर्शन होते। यदि उन्होंने श्री स्थानांग सूत्र का चौथा स्थान ही देखा होता तो उस में उन्हें अवश्य दीख पड़ते कि चार कारणों को लेकर जीव नर्क में जाता है, उनमें मांसाहार भी है। श्री उत्तराध्ययन सूत्र के पाँचवें, सातवें तथा ऊन्नीसवें अध्ययन में भी वे देख सकते कि मध और मांस का उपयोग

करने वालों की कैसी दुर्गति होती है। यहाँ यह उपदेश देने का यही उद्देश्य है कि कोई जैन-श्रमण मध और मांसका उपयोग करने का लालच न करे!

जैन सूत्रों में तो कदम कदम पर जीव-हिंसा से बचने का उपदेश है। और संयमी जीवन का प्रारंभ ही अहिंसा के शुद्ध पालन से होता है। फिर मांसाहार की कल्पना ही कैसे की जाय? परन्तु अध्यापक कोसम्बी तो जैन-श्रमणों को (हम यह नहीं जानते कि जैन श्रमण बुद्ध के मांसाहार की निंदा करते थे। परन्तु अध्यापक कोसम्बी स्वयं कह रहे हैं; इसीलिए हमने यहाँ उन शब्दों का उपयोग किया है।) येनकेन प्रकारेण हीन बताना था, इसलिए वे उन पाठों पर दृष्टि डालने का कष्ट क्यों करें?

श्रमण भगवान् महावीर की जीवन घटना के बारे में उन्होंने अन्य द्वारा दिया गया भगवती सूत्र का नीचे का पाठ प्रस्तुत किया है:—

तं गच्छह णं तुमं सीहा! मेंढियगामं नगरं रेवतीए गाहावतिणीए गिहे तत्थ णं रेवतीए गाहावतिणीए अट्ठाए दुवे कवोयसरीरा उवक्खडिया, तेहिं नोअट्ठो। अत्थि से अन्ने पारियासिए मज्जारकडए कुक्कुडमंसए तमाहराहि एएणं अट्ठो।

आगम सूत्र के समर्थ टीकाकार श्री अभयदेवसूरिजीने इस पाठ का अर्थ करते हुए कहा है कि 'ततो गच्छ त्वं मेंढिकग्रामनगरमध्ये तत्र रेवत्याभिधानया गृहपत्न्या मदर्थकुष्माण्डफल उपस्कृते, न चैताभ्यां प्रयोजनं, तथा अन्यदस्ति तद्गृहे परिवासितमार्जाराभिधानस्य वायोर्निवृत्तिकारकं कुक्कुटमांसकं बीजपूरकं कटाहं इत्यर्थः तदाहर तेन नः प्रयोजनम्।

अर्थात् हे सिंह ! तू मेंढ़िकग्राम नामक नगर में जा और रेवती नामक गृहपत्नी द्वारा मेरे लिए जो कोहडे के दो फल संस्कार कर तैयार किए हैं; उनका कोई प्रयोजन नहीं हैं; परन्तु उस के घर में और जो मार्जार नामक वायु की निवृत्ति करने वाला कुक्कुट मांस अर्थात् बीज-पूरक का गर्भ है, उसे ले आव । उस की मुझे आवश्यकता है ।

इस परंपरागत जैन संघद्वारा मान्य अर्थ का उद्धरण लेने के बदले अध्यापक कोसम्बीने ऊस का निम्न अर्थ किया है:—

'ऐसे समय में महावीर स्वामीने सिंह नामक अपने शिष्य से कहा कि तू मेंढ़िक ग्राम में जा । उसने मेरे लिए दो कपोत पका रखे हैं; ये मुझे नहीं चाहिए । उसे कहना कि काली बिल्ली द्वारा मारी गई मुर्गी का जो मांस तूने बनाया है वही दे दे ।'

एक गण्यमान्य विद्वान सूत्रसिद्धान्त का मनचला अर्थ करें और किसी भी प्रकार अपने द्वारा मान्य सिद्धान्त को सिद्ध करने की बात करें, यह सचमुच दुःखद बात है । श्रमण भगवान् महावीर के समग्र जीवन में मांसाहार की कोई घटना ही नहीं घटी है । तब अध्यापक कोसम्बी का यह कथन कि इस विषय में भरसक प्रमाण उपलब्ध हो गये हैं; एक तरह का व्यामोह ही हो सकता है न ? फिर उन्होंने इस चर्चा में बताया है कि श्री गुलाबचंद्रजी स्वामी नामक एक स्थानकवासी वयोवृद्ध साधु ने अपने अर्थ को संमति दी है । वह भी कृत्रिम सिद्ध हुआ है । इस विषय में श्री गुलाबचंद्रजी स्वामीने स्पष्टता करते हुए बताया है कि:—यह मेर स्मरण में नहीं है कि मैंने १९८५ में अहमदाबाद में मांसहार सम्बन्धी बात की हो । तदुपरांत जैन—श्रमण मांसाहार या शराब का कभी भक्षण

करते ही नहीं हैं। धर्मानन्द कोसम्बी ने भगवान्—बुद्ध—नामक पुस्तक में जो लिखा है, इस में कोई तथ्य नहीं है और उसके साथ मैं सहमत नहीं हूँ। मांसाहार की बात मुझे स्वीकार्य नहीं है।

अब अध्यापक कोसम्बी ने अपनी चर्चा के समर्थन में श्री दशवैकालिक सूत्र का जो पाठ दिया है और उसका जो अर्थ किया है उसे भी देखें।

बहु अट्ठियं पुग्गलं अणिमिसं वा बहुकंटयं।
अत्थियं तिंदुयं बिल्लं, उच्छुखंडं व सिंबलिं॥
अप्पे सिआ भोअणज्जाए, बहु उज्झियधम्मियं।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पई तारिसं॥

जैन परिपाटी के अनुसार उसका अर्थ नीचे लिखे अनुसार किया जाता है:—

जिस में बहुत बीज हों, ऐसे फल (जैसे कि सीताफल इत्यादि) अतिमिष नामक वृक्ष का फल तथा जिसे बहुत कांटे हों, ऐसा फल (उबाले गए सिंघाडे इत्यादि) अगथिये का फल, बिल्वफल, ईख के टुकडे, सामली वेल का फल इत्यादि फल, शायद अचित्त हों, फ़िर भी उन में खाद्य अंश कम और फेंक देने का अंश अधिक होता है। अतः भिक्षु ये चीजें देने वाले दाता से कहते हैं कि यह भिक्षा मेरे लिए योग्य नहीं है।

परन्तु अध्यापक कोसम्बीने इस गाथा का अर्थ किया हैं कि बहुत हड्डियों वाला मांस, बहुत कांटों वाली मछली अस्थि वृक्ष का फल, वेल का फल, ईख के टुकडे इत्यादि पदार्थ (जिस में खाने का भाग कम

और फेंक देने का अंश अधिक हो।) के बारे में देनेवाली को ऐसा कह कर रोका जाय कि वह मेरे लिए उचित नहीं है।

यहाँ अस्थि का अर्थ हड्डी और कांटे का अर्थ मछली के कांटे लगा कर के ऐसा भ्रम केलाने का प्रयत्न किया है की मानों जैन श्रमण भी माँस–मछली लेनेको (वहोरनेको) जाते थे।

प्राचीन साहित्य मे माँस, अस्थि, मज्जा इत्यादि शब्द वनस्पति के अंगों को पहचान के लिए उपयोग में लिए जाते थे। यह बात क्या अध्यापक कोसम्बी जैसे गण्यमान्य विद्वान नहीं जानेते होंगे? सुश्रुत–संहिता में शरीर स्थानीय तृतीय अध्ययन में आम्रफलों के अवयवों का वर्णन करते हुए बनाया गया है कि '**आम्रकले अपरिपक्वे केशरमांसास्थिमज्जा न पृथग् दृश्यन्ते।**' अर्थात् कच्चे (छोटे) आम के फल में केसर, अस्थि, मांस और मज्जा अलग अलग दिखाई नहीं देते। 'चरक संहिता' पृष्ठ १०२ पर खजूर और नारियल का वर्णन करते हुए महर्षि आत्रेयने लिखा है कि "**खर्जूरमांसान्यथ नारिकेलं**" अर्थात् खजूर और नारियल का मांसा इसी प्रकार जैन सूत्रों में वनस्पति का वर्णन करते हुए अस्थि इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया गया है! श्री प्रज्ञापना सूत्र के प्रथम पद में श्री गौतम स्वामी भगवान से पूछते हैं कि "**से तं किं रुक्खा?। रुक्खा दुविहा पण्णत्ता तं जहा एगट्ठिया य बहुबीयगा य**' अर्थात् हे भगवन्। वृक्ष कितने प्रकार के होते हैं? भगवान उसका उत्तर देते हैं की हे गौतम! वृक्षों के दो प्रकार हैं। एक गोठली वाले और दूसरे बहुत बीज वाले। यहाँ अस्थि शब्द आने से यदि हड्डी का अर्थ लगाया जाय, तो एक हड्डी वाले और दूसरे बहुत बीजवाले, इस प्रकार दो तरह

के वृक्ष हो सकते हैं। परन्तु अभी तक किसीने हड्डीवाले वृक्ष देखा नहीं हैं। तात्पर्य की जहाँ जो प्रकरण चल रहा हो, और जो अर्थ परिपाटी हो, उसका अनुसरण करते हुए शब्द का अर्थ करना चाहिए।

जैन श्रमणों की हजारों जीवन कथाएँ लिखी गई हैं। उन में किसी भी स्थान पर माँस लेने के लिए जाने की या मांस ग्रहण करने की तथा उसमें भी बहुत हड्डियों वाला मांस या बहुत कांटों वाली मछली ग्रहण करने की घटना यदि अध्यापक केसम्बीने अपने मत समर्थन में बताई होती तो कोई भी तटस्थ विद्वान इस विषय का विचार करने के लिए तैयार होते। परन्तु ऐसा तो एक भी उदाहरण वे दे सके नहीं हैं और दे सकते भी नहीं हैं। क्यों की वास्तव में मूल ही नहीं है, फिर शाखाओं के विस्तार की तो बात ही कैसे की जाय? जैनों के जीवन में आज तक मध–मांस के निषेध का पूर्ण रुपसे पालन किया जाता है यह बात भी अध्यापक केसम्बी के मत को भ्रमपूर्ण बताने के लिए पर्याप्त है।

अब हम **शूकर माधवम्** कि मूल चर्चा करें:—

प्रो० ललित मोहनकार काव्यतीर्थ, अेम. अे. बी. एल. शूकर माधवम् के अर्थ का विद्वता पूर्ण विवेचन करते हुए बताते हैं कि "वास्तव में यह बात विचित्र सी प्रतीत होती है कि एक अशीति वर्षीय व्यक्ति को, जो पिछले चालीस वर्षों से एक पुण्यात्मा के रूप में विख्यात हों तथा अत्यंत संभवतया दन्तहीन हों–पशु के मांस का भोजन दिया जाय। इस के अतिरिक्त इस प्रकार का भोजन उन के सिद्धान्तों के पूर्णरूपेण प्रतिकूल था। बौद्धों के शीलों अथवा संयमों का (५, ८ अथवा १० नियमों का, जिनकी संख्या आध्यात्मिक उन्नति के अनुसार निर्धारित होती हैं)

आरंभ किसी प्राणी का जीवन न लेने से होता है। जातकों में पशुओं के भोजन के लिए मारने से बचाने के लिए बुद्ध द्वारा अपने शरीर समर्पण का उल्लेख है। यदि बुद्ध अपने जीवन कालमें ही जनता के समक्ष अपने विगत जीवन के आदर्शों के प्रतिकूल आचरण करे तो इन सभी उपदेशों का प्रभाव पूर्णतया लुप्त हो जाता। पशुओं के वध का विरोध करने के कारण ही हिन्दू लोग बौद्ध को दशावतार में स्थान देते हैं। विनयपिटक में हमें स्पष्ट रूप से यह निषेध मिलता है। ओ भिक्षुओ! भोजन के लिए मारे गए किसी पशु का मांस कभी भी नहीं खाना। जो भी ऐसा करेगा, वह घोर पाप का भागी होगा।"

अध्यापक केसम्बी बौद्ध धर्म के विद्वान हैं। अतः उन्होंने ये वचन अवश्य पढ़े होंगे। परन्तु लगता है कि मांसाहार से सम्बन्धित अपने मत को सिद्ध करनेकी धून में उन्होंने उस पर ध्यान नही दिया।

अहिंसा धर्मका एक महान उपदेशक बार बार सूअर का मांस खाता हो, और ८० वर्ष में भी उसकी वह आदत छूटती न हो, और पच न सकने के कारण मृत्यु हुई हो इस प्रकार भुद्ध भगवान् का पवित्र चरित्र हमारे सामने प्रस्तुत करने के उपलक्ष्य में अध्यापक केसम्बी को कई अभिनन्दन मिले है। तदुपरांत उनके इस चरित्रने साहित्य एकादमी जैसी भारत की एक उच्चत्तम साहित्य प्रकाशन संस्था द्वारा एक श्रेष्ठ पुस्तक के रूप में स्थान पाया है तथा उसके भारत की विभिन्न भाषाओं में अनुवाद भी हुए हैं—जो कि कुछ अनुवाद जैन समाज के घोर विरोध के कारण हाल तुरन्त के लिए स्थगित कर लिए गए हैं—ये सब देख कर किसी भी विचारक व्यक्ति को अवश्य विचार आयेगा

कि जो पुरुष "सत्य मेव जयते" मुद्रालेख को स्वीकार करते हैं और सत्य का अनुसरण करने का दावा करते हैं, वे ऐसे अनेक दोषों से पूर्ण, खुद चरित्र नायक के भयंकर अन्याय करनेवाली और दूसरों पर नृशंस हमला करनेवाली इस पुस्तक को श्रेष्ठ पुस्तक क्यों मानते होंगे? परन्तु आज हमारे देश में चिंतन का स्तर बहुत गिर गया है! और तटस्थता मानों बिलकुल नष्ट हो गई है, अतः ऐसी घटनाएँ घटती रहती हैं और प्रचार की ढोल पीटनेवाले उसकी प्रशंसा करने से थकते नहीं हैं। हे भारतीय समाज! क्या तेरी यही स्थिति है?

तदुभय शुद्धि अर्थात् सूत्र और अर्थ उभय की शुद्धि। इस नियम का तात्पर्य यह है कि सूत्र जो बोला जाय, वह अक्षरों एवं भाव से भी शुद्ध होना चाहिए। इस तरह दोनों ढंग से शुद्ध सूत्र–ज्ञान से वस्तु का सही स्वरूप समझने में भारी सहायता पहुंचती है; अतः जैन श्रमण इस नियम को भी महत्व पूर्ण समझते हैं।

दर्शनाचार

दर्शनों के बारे में जैन शास्त्रों में कहा है कि:—

अतुलगुणनिधानं सर्वकल्याणबीजं,
जननजलधिपोतं, भव्यसत्त्वैकचिह्नम्।
दुरिततरुकुठारं पुण्यतीर्थं प्रधानं,
पिबत जितविपक्षं, दर्शनाख्यं सुधाम्बु॥

हे लोको! तुम दर्शन नामक अमृत जल को पीओ। क्योंकि उसमें अतुल गुणों का निधान है, सभी कल्याण का बीज है, संसार

सागर पार करने की नौका है, योग्य जीवों का एक लक्षण है, पापरूपी वृक्ष के छेदन के लिए कुल्हाडी है, पवित्र तीर्थ है, सर्व तरह से श्रेष्ठ और मिथ्यात्व को पराजित करनेवाला है।

यहाँ दर्शन शब्द का अर्थ सम्यक्त्व समझना है कि जिसकी शास्त्रकारों ने भूरि भूरि प्रशंसा की है। श्री उत्तराध्ययन सूत्र के अट्ठाइसवें अध्ययन में कहा है कि:—

नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुन्ति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं॥

दर्शन के बिना ज्ञान नहीं हो सकता। ज्ञान के बिना चारित्र के गुण नहीं होते, चारित्र के गुणों के बिना कर्म में से मुक्ति नहीं मिल सकती और कर्म में से मुक्ति पाये बिना निर्वाण प्राप्ति नहीं होती।

दर्शनाचार का पालन करने के लिए जैन श्रमण नीचे लिखे आठ नियमों का अनुसरण करते हैं:—(१) निःशंकित होना, (२) निष्कांक्षित होना, (३) निर्विचिकित्स होना, (४) अमूढ़दृष्टि होना, (५) उपबृंहणा करना, (६) स्थिरीकरण करना, (७) साधार्मिक वात्सल्य करना और (८) शासन की प्रभावना करना।

(१) उनमें निःशंकित होने का अर्थ यह है कि वे जिन-वचन में किसी प्रकार की शंका करते नहीं हैं। यहाँ कोई प्रश्न उठा सकता है कि बुद्धि तो शंका किया ही करती है, और जब तक उसका समाधान न हो तबतक किसी भी चीज़ पर श्रद्धा होती नहीं है। तो फिर शंका कैसे न होगी? अथवा बिना शंका किए कैसे चलेगा? उसका उत्तर है कि वस्तु के स्वरूपों

का ज्ञान प्राप्त करने के लिए शंका उठाना, प्रश्न पूछना, विशेष प्रश्न पूछना और उनके द्वारा मन का समाधान करने के लिए प्रयत्नशील रहना, वह इष्ट है। परन्तु वह शंका कि जिनेश्वर भगवान ने जो कहा है सो सही होगा या नहीं यह इष्ट नहीं है। यदि जिन भगवान् ने जो कहा है, सो सत्य न हो, तो उनके शासन को समर्पित कैसे? और उनके द्वारा बताई गई अहिंसा, संयम और तप की साधना भी कैसी? जिसका मन जिन-वचन में सन्देह-शील होता है, वह आखिर साधनाभ्रष्ट बनता है। अतः जैन श्रमण **"तमेव सच्चं णिस्संकं जं जिणेहिं पवेइयं"** जिनोंने जो कहा है, वही सत्य और निःशंक है, इस तरह मानकर अपनी साधना में स्थिर बनता है और क्रमशः आगे बढ़ता है।

(२) निष्कांक्षित का अर्थ यह है कि वे अन्य असर्वज्ञ के मत की अभिलाषा करते नहीं हैं। यदि मन ध्येय स्वरूप खूँटे पर बँधा हुआ न हो और इधर-उधर घूमता फिरता हो अथवा किसी भी मत या मार्ग की अभिलाषा करता हो तो स्वीकृत साधना में सफलता कैसे मिलेगी? यदि इंजनेरी की पढ़ाई करनेवाला चाहे कि मैं इस लाइन को छोड़कर चिकित्सा का अध्ययन करूँ तो अच्छा और चिकित्साकी पढ़ाई करनेवाला यह चाहे कि मैं इस लाइन को छोड़कर वकालात का अध्ययन करूँ तो ठीक;—इस प्रकार एक के बाद दूसरी लाइन की इच्छा करता जायगा और स्वीकृत लाइन को छोड़ देगा, तो वह क्या किसी भी विषय का विशेषज्ञ हो सकेगा?

(३) निर्विचिकित्स का अर्थ है साधना के फल के प्रति शंकाशील न बनना। ऐसे लोग किसी भी विषम परिस्थिति में अपने मनको तुच्छ,

कलुषित या डाँवाडोल नहीं होने देते। बुद्धि को स्थिर रखते हैं। जो छोटी–बड़ी टीकाओं को सुनकर या विरुद्ध अभिप्राय को सुनकर स्वीकृत साधना को छोड़ देते हैं; वे कभी अपनी साधना में सफलता प्राप्त कर सकते नहीं हैं।

(४) अमूढ़दृष्टि का अर्थ है, हर वस्तु का विचार कर उसका विवेकबुद्धि से पृथक्करण करके उसके सम्बन्ध में अपनी राय बनानी। मिथ्यादृष्टि वालोंकी पूजा–प्रभावना होती देख कर मूढ़ न होना; तत्त्व मार्ग में अरुचि न करना जैन शास्त्रोंने स्पष्ट कहा है कि गुणग्राही बनना अच्छा है, मूढ़ बनना ठीक नहीं है।

(५) उपबृंहणा करने का अर्थ यह है कि वे किसी भी साधक को साधना मार्ग में आगे बढ़ता देखकर उसके गुणों की प्रशंसा करते हैं और उसे उस दिशा में आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहन मिले, ऐसे शब्द कहते हैं। गुणवानों को देखकर प्रसन्नता प्रकट करने की वृत्ति को शास्त्रकारों ने भावना चतुष्टय में महत्वपूर्ण स्थान दिया है कि जो समता का संधान करने के लिए बहुत उपयोगी है।

(६) स्थिरीकरण का अर्थ है कोई भी साधक अपने साधना मार्ग से विचलित हुआ हो, या विचलित होने की तैयारी में हो तो उसे हित-शिक्षा देकर तथा अन्य तरीकों से उसे अपनी साधना में स्थिर करना परन्तु उस के प्रति उपेक्षा रखना नहीं।

(७) साधर्मिक वात्सल्य करने का अर्थ है कि जिसने मोक्षमार्ग की साधना को स्वीकार किया है, उस के प्रति अंतर से आदरभाव बताना और कोई जब कभी समागम में आए, तब उसका उचित स्वागत करना।

(८) शासन प्रभावना करने का अर्थ है कि वे अपनी विविध शक्तियों द्वारा जिन शासन की ख्याति बढ़ाते हैं और उस के प्रति लोगों का आकर्षण पैदा करते हैं। जैनशास्त्रों में प्रावचनिक, धर्मकथा, वादी, नैमत्तिक, तपस्वी, विद्यावान्, सिद्ध और कवि इन आठ प्रकार के प्रभावक बताये गये हैं।

उनमें जो महापुरुष विद्यमान जिनागम के पारगामी बनकर शासन की प्रभावना करें, वे श्री वज्रस्वामी इत्यादि की तरह प्रावचनिक प्रभावक हैं। जो महापुरुष धर्मकथा करने की विशिष्ट शक्ति द्वारा हृदय के गहरे संशयों को भी दूर कर सकते हैं तथा भव्य जीवों के चित्त को धर्म प्रदान कर सके, वे महर्षि नंदिषेण इत्यादि की तरह धर्मकथी प्रभावक कहे जाते हैं। जो महापुरुष प्रमाण, युक्ति और सिद्धान्त के बल द्वारा परवादियों के साथ वाद कर के उनके मिथ्यामत का उच्छेद कर सकते हैं, वे आचार्य मल्लवादी की तरह वादी नामक प्रभावक माने जाते हैं जो महापुरुष अष्टांग निमित्त तथा ज्योतिष शास्त्र के उत्तम ज्ञान द्वारा शासन की प्रभावना करते हैं, वे भद्रबाहुस्वामी इत्यादि की तरह नैमित्तिक नामक प्रभावक कहे जाते हैं। जो महापुरुष विविध प्रकार की तपश्चर्याओं द्वारा शासन की महिमा बढ़ाते हैं, उन्हें विष्णुकुमार मुनि इत्यादि की तरह तपस्वी नामक प्रभावक कहा जाता है। जो महापुरुष विद्याशक्ति द्वारा शासन की उन्नति करते हैं वे आर्य खपुटाचार्य इत्यादि की तरह विद्यावान नामक प्रभावक कहे जाते हैं। जो महापुरुष अंजन, चूर्ण, लेप आदि सिद्ध किए गए योगों द्वारा जैन शासन का गौरव बढ़ाते हैं, वे श्री पादलिप्तसूरि

इत्यादि की तरह सिद्ध नामक प्रभावक गिने जाते हैं। और जो महात्मा अद्भुत काव्यशक्ति द्वारा हजारों लोगों के हृदयों को जीत सकते हैं, वे सिद्धसेन दिवाकर या श्री हेमचंद्राचार्य इत्यादि की तरह कवि नामक प्रभावक माने जाते हैं।

प्रभावक चरित्र, प्रबंध चिंतामणि, प्रबंध कोष, इत्यादि ग्रंथों में ऐसे अनेक प्रभावक पुरुषों की जीवन कथाएँ वर्णित की गई हैं।

चारित्राचार

पांच समितियों और तीन गुप्तियों का पालन करना, सो चारित्राचार है, जिसका विस्तृत वर्णन पिछले प्रकरण में किया गया है।

तपाचार

जैनशास्त्रों ने तप को भी अहिंसा और संयम जितना ही महत्व दिया है। क्योंकि उसी के द्वारा आत्मापर लगे हुए कर्मों का नाश हो सकता है। श्री उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है कि "भवकोडिसंचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जइ," करोडो भवों के संचित कर्म तप द्वारा झड़ जाते हैं।

श्रमण भगवान् महावीर ने दीर्घ तपश्चर्या करके अपने कठिन कर्मों को नष्ट किया। इस घटना ने तपश्चर्या को जैनसंघ के लिए आदरणीय बनाया है। गृहस्थ भी द्वितीया पंचमी, अष्टमी, एकादशी या चतुर्दशी आदि पर्वतिथियाँ करके किसी भी प्रकार की तपश्चर्या करते ही हैं। तो फिर मुक्ति की साधना ही जिनका जीवन-ध्येय है, उनकी तो बात ही क्या? जैनशास्त्र बाह्य और आभ्यंतर, इस प्रकार तप के दो विभाग करते हैं।

और दोनों के छः छः प्रकारों का वर्णन करते हैं। उसका संक्षेप में परिचय कर लेना चाहिए।

अणसणमुणोअरिआ वित्तिसंखेवणं रसच्चाओ।
कायकिलेसो संलीणया, य बज्झो तवो होइ॥

१. अनशन (अणसण) २. उनोदरिका, ३. वृत्तिसंक्षेप, ४. रस-त्याग, ५. कायक्लेश और ६. संलीनता, ये छः बाह्य तप के प्रकार हैं।

(१) अनशन का स्पष्ट अर्थ है भोजन न करना याने आहार का त्याग करना। 'न अशनमनशनम् आहारत्याग इत्यर्थः' इस तप के दो प्रकार हैं। (१) इत्वर और (२) यावत्कथिक। उनमें नियत समय के आहार-त्याग को इत्वर अनशन कहा जाता है। उसमें समय पूरा होने के बाद भोजन करने की आकांक्षा होती है। और आजीवन आहारत्याग को यावत्कथिक कहा जाता है। उसमें आहार का त्याग करने के बाद कभी भोजन की आकांक्षा नहीं होती है।

उपवास, आयंबिल, एकाशन, इत्यादि तप का इत्वर अनशन में समावेश होता है। जीव का अनादि काल से आहार करने का जो स्व-भाव है, और लोलुपता है, उसके ऊपर इस तप द्वारा सुन्दर काबू प्राप्त किया जा सकता हैं।

विदेश में बर्नार्ड एकरुडेन इत्यादि लेखकों ने उपवास के संबंध में बहुत सी मीमांसा की है। और इस देश में भी भिन्न भिन्न लेखकों ने बार बार यह जाहिर किया है कि उपवास से आरोग्य प्राप्त किया जा सकता है। उपवास द्वारा असाध्य दर्दों को दूर किया जा सकता है।

परन्तु जैन परंपरा में तो मात्र कर्म की निर्जरा करने के उद्देश्य से ही तप का विधान किया गया है। उसमें स्पष्ट बताया है कि :–

पूजालाभप्रसिद्धर्थं, तपस्तप्यते योऽल्पधीः।
शोष एव शरीरस्य, न तस्य तपसः फलम्॥

जो मंदबुद्धि मनुष्य पूजा, लाभ या प्रसिद्धि के लिए तप करता है, उसे तप का फल मिलता नहीं है। वह तप केवल शरीर का शोषण है।

यहाँ यह भी स्पष्ट करना चाहिए कि जैन–श्रमण किसी के हृदय का परिवर्तन करने के लिए या किसी पर दबाव डालने के लिए कभी उपवास आदि का आश्रय लेते नहीं हैं। क्योंकि ऐसी तपश्चर्या आर्त्तध्यान तथा रौद्रध्यान की वृद्धि करनेवाली होने से वे उसे एक प्रकार का लांघन गिनते हैं।

(२) उनोदरिका यानी भूख से कुछ कम खाना। सामान्यतः पुरुष का आहार बत्तीस कवल (ग्रास) और स्त्री का आहार अट्ठाईस कवल (ग्रास) माना जाता है। उससे दो चार कवल कम खाया जाय तो उनोदरिका होती है। इस तप से मन पर काबू आता है और आहार–संज्ञा को जीतने में अच्छी सी सहायता मिलती है।

(३) वृत्ति–संक्षेप अर्थात् वृत्ति का संक्षेप करना। आहार और पानी द्वारा जीवित रहा जा सकता है। अतः उसे वृत्ति कहा जाता है। यह तप श्रमणों की गोचरी के अभिग्रहरूप होता है। उसके द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव ये प्रकार हैं। उनमें अमुक स्थिति कीया अमुक वस्तु यदि मिल

जाय तो लेना, वह द्रव्य अभिग्रह है। अमुक निशानवाले व्यक्तियों के हाथों से ही आहार लेना, वह क्षेत्र अभिग्रह है। सभी भिक्षुकों की भिक्षा के लिए जाने के बाद गोचरी लेने का जाना, वह काल अभिग्रह है। और दाता हँसता हुआ या रोता हुआ या अमुक ही भाववाला हो तो लेना वह भाव अभिग्रह गिना जाता है। श्रमण भगवान् महावीर ने दस बोल से इन चारों प्रकार के अभिग्रह किये थे और पांच मास और पच्चीस दिन के बाद उसका पारणा (निवारण) श्री चंदनबाला के हाथों से हुआ था, यह घटना सुप्रसिद्ध है।

गृहस्थ खान–पान के द्रव्यों की संख्या को कम करके यह तप करते हैं।

(४) रसत्याग अर्थात् रस की संज्ञावाले द्रव्यों का त्याग करना। जैन शास्त्रों में रससंज्ञक द्रव्यों को विकृति कहा जाता हैं। क्यों कि वह मन, वचन और काया में विकृति पैदा करती है। विकृति के मुख्य १० भेद हैं। (१) मध, (२) मदिरा, (३) मक्खन, (४) मांस, (५) दूग्ध, (६) दही, (७) घी, (८) तैल, (९) गुड़ और (१०) पक्वान्न। उनमें ये चार महा विकृति पदार्थ हैं, मध, मदिरा, मक्खन और मांस। इनमें उन उन प्रकार के असंख्य जीव पैदा होने से एवं वे पदार्थ तामसी होने से सर्वथा अभक्ष्य हैं। शेष विकृतियों का यथासंभव कम उपयोग करना है। स्वाद के लिए डाली जानेवाली मिर्च इत्यादि भी अपेक्षाविशेष से रस हैं। उसमें भी संयमी बनना आवश्यक है।

रस की गृद्धि से अनेक प्रकार के रोग होते हैं; और कई बार प्राण भी खोना पड़ता है। रसवाला भोजन इन्द्रियों को उत्तेजित करता

है। इसीलिए ब्रह्मचर्य के सातवें नियम में 'प्रणीताभोजनम्' अर्थात् मादक आहार का त्याग करना; यह विधान है।

छः विकृतियों का और मिर्च इत्यादि मसालों का त्याग करना उसे एकासन युक्त आयंबिल कहा जाता है। इस तप की विशेष आराधना के लिए चैत्र शुक्ल सप्तमी से पूर्णिमा और अश्विन शुक्ल सप्तमी से पूर्णिमा तक, इस प्रकार नौ–नौ दिनों की ओळियाँ नियत की गई हैं। तदुपरांत आयंबिल वर्धमान तप की योजना भी है, जिसमें एक आयंबिल और एक उपवास, दो आयंबिल और एक उपवास, तीन आयंबिल और एक उपवास, इस प्रकार उत्तरोत्तर सौ आयंबिल और एक उपवास किया जाता है। यहाँ नोट करने जैसी बात यह है कि आज अनेक जैन–श्रमण इस तप की व्यापक परिमाण में आराधना करते हैं और कई श्रमणों ने तो उसकी सफलतापूर्वक पूर्णाहुति भी की है।

(५) कायक्लेश यानी तपश्चर्या के निमित्त शरीर को जो क्लेश या कष्ट हो, उसे समतापूर्वक सहन करना। खुले पैर सैंकडों मीलों तक विहार करना, केश का लोच करना, एक आसन से लम्बे समय तक बैठ रहना, इत्यादि क्रियाओं द्वारा इस तप की आराधना की जाती है।

(६) संलीनता यानी शरीर, वाणी और मन का संगोपन करना। जैन श्रमण स्त्री, पशु और नपुंसक के वास से रहित ऐसे एकान्त विशुद्ध स्थान में वास कर के मन को विषय से विमुख बना कर इस तपश्चर्या की आराधना करते हैं।

पानी मे खड़ा रहने में, अग्नि जलाने में, कच्चे फल, फूल या

अन्न खाने में एक प्रकार की हिंसा है। अतः जैन श्रमण इस प्रकार के तपों का आचरण नहीं करते हैं।

पायच्छितं विणओ वेयावच्चं तहेव सज्झाओ।
झाणं उस्सग्गो विअ, अब्भिंतरओ तवो होइ॥

१. प्रायश्चित, २.विनय, ३. वैयावृत्य, ४. स्वाध्याय, ५. ध्यान और ६. उत्सर्ग, ये आभ्यंतर तप हैं।

(१) पांच महाव्रत ये मूलगुण हैं। और उन्हें सहायता पहुँचानेवाले अन्य व्रत या नियम उत्तरगुण कहे जाते हैं। इन मूल गुणों और उत्तर गुणों के पालन में जो जो स्खलनाएँ हो जायें, उन्हें श्रमणों की भाषा में अतिचार कहा जाता है। ऐसे हरएक अतिचार की शुद्धि गुरुदत्त प्रायश्चित द्वारा कर लेनी चाहिए। उसकी सामान्यतः विधि यह है कि हरएक साधक अपने गुरु के समक्ष पूर्णतः साफ दिल से अपनी स्खलना यानी अपने अतिचार का इकरार करे और गुरु उसका प्रकार देखकर साधारण, मध्यम या कड़ा तप आदि दंड दे। उस को शुद्धि का निमित्त समझ कर प्रसन्नतापूर्वक भोगना चाहिए। इस प्रकार साधक को अपने अभ्यंतर जीवन की शुद्धि कर लेनी चाहिए। किस अतिचार की कितना दंड देना चाहिए उसका आधार शास्त्रानुसार गुरु की इच्छा पर है। इस विषय की विस्तृत विचारणा छेद सूत्रों में की गई है। इसे प्रायश्चित्त कहते हैं।

(२) विनय का साधारण अर्थ नम्र आचरण होता है। परन्तु यहाँ ज्ञानादि मोक्षसाधना की यथाविधि आराधना के अर्थ में उसका प्रयोग किया गया है। उसके ये ५ भेद प्रसिद्ध हैं। ज्ञान–विनय, दर्शन–विनय,

चारित्र–विनय, तप–विनय और औपचारिक विनय, अर्थात् आचार्यादिक से शिक्षण प्राप्त करने का विनय। प्रशमरति प्रकरण में वाचकवर्य श्री उमास्वाति महाराजने विनय की महत्ता बताते हुए लिखा है कि:—

विनयफलं शुश्रूषा, गुरुशुश्रूषा–फलं श्रुतज्ञानम्।
ज्ञानस्य फलं विरतिर्विरति–फलं चास्रव–निरोधः॥

संवरफलं तपोबलमथ तपसो निर्जराफलं दृष्टम्।
तस्मात् क्रियानिवृत्तिः क्रियानिवृत्तेरयोगित्वम्॥

योगनिरोधाद् भवसन्ततिक्षयः सन्ततिक्षयान्मोक्षः।
तस्मात् कल्याणानां, सर्वेषां भाजनं विनयः॥

विनय का फल गुरु–शुश्रूषा है। गुरु–शुश्रूषा का फल श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान का फल विरति है और विरति का फल आस्रव–निरोध है। आस्रवनिरोध अर्थात् संवर, उसका फल तपोबल है, एवं तपका फल निर्जरा है। इससे क्रिया की निवृत्ति होती है और क्रियानिवृत्ति से अयोगीत्व होता है। अयोगीपन अर्थात् योगनिरोध, इससे भवसंतति यानी भवपरंपरा का क्षय होते हुए मोक्ष मिलता है। इस प्रकार सर्व कल्याणों का मूल विनय है।

विनय द्वारा चित्त को एक तरह की समाधि मिलती है। अतः अभ्यंतर तप में उसकी गणना की गई है।

(३) धर्म साधना के निमित्त स्वरूप अन्नादि का विधिपूर्वक संपादन करना, दिलाना या विशिष्ट रूप से सेवा–शुश्रूषा करना, उसे वैयावृत्य कहा जाता है। श्री भगवती सूत्र में उसके नीचे लिखे अनुसार दस

प्रकार बताये गए हैं:—(१) आचार्य का वैयावृत्य, (२) उपाध्याय का वैयावृत्य, (३) स्थविर का वैयावृत्य, (४) तपस्वी का वैयावृत्य, (५) ग्लान अर्थात् बीमार या अशक्त साधु का वैयावृत्य, (६) शैक्ष अर्थात् नवदीक्षित हो, जो शिक्षा प्राप्त करते हैं, उस साधु का वैयावृत्य, (७) कुल अर्थात् एक आचार्य का शिष्य समुदाय, उसका वैयावृत्य, (८) गण अर्थात् विभिन्न आचार्य के समान वाचना वाले सहाध्यायी, उसका वैयावृत्य, (९) संघ अर्थात् सकल श्रमण संघ का वैयावृत्य और (१०) साधर्मिक अर्थात् समान धर्म पालनवालों का वैयावृत्य।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है कि **"वेयावच्चेणं तित्थयरनामगुत्ते कम्मं निबंधइ।"** वैयावृत्य से तीर्थंकर नामगोत्र का कर्म बंधाता है अर्थात् वह आत्मा भविष्य में अवश्य तीर्थंकर होती है।

नम्रता, सेवाभाव और कर्तव्य-परायणता के कारण वैयावृत्य की गणना अभ्यंतर तप में की गई है।

(४) स्वनिमित्त अर्थात् आत्मशुद्धि या आत्मविकास के निमित्त सूत्र—सिद्धान्त का अध्ययन अध्यापन करना, उसे स्वाध्याय कहा जाता है। उसके वाचना, प्रच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा, ये ५ प्रकार हैं।

गुरु से सूत्र पाठ और उसका अर्थ ग्रहण करना, उसे वाचना कहा जाता है। उसके बारे में उठने वाली शंकाओं के समाधान के लिए प्रश्न पूछना, उसे प्रच्छना कहा जाता है। सूत्रपाठ तथा अर्थ की आवृत्ति करना, पुनरावर्तन करना, उसे परिवर्तना कहते हैं, उस पर सूक्ष्म चिंतना

करना, वह अनुप्रेक्षा है, और उसका अन्य के साथ विनिमय करना, उसे धर्मकथा कहते है।

ज्ञान–प्राप्ति के लिए स्वाध्याय मुख्य उपाय है और उस के द्वारा चित्त की उत्तरोत्तर शुद्धि होती है। अतः उसकी गणना अभ्यंतर तप में की गई है।

(५) ध्यान अर्थात् मन की एकाग्रता। वह जब किसी इष्ट के अयोग या अवियोग के और किसी दुःख या पीड़ा के निवृत्ति या अनागमन के विचारों के कारण होती हो, तब उसे आर्त्तध्यान कहा जाता है। किसी के प्रति वैर, विरोध या लालच के कारण हिंसा, झूठ, चोरी, और संरक्षण के विचारों से हुई हो, तब उसे रौद्रध्यान कहा जाता है। यदि वह धर्म–साधना के निमित्त हुई हो, जिनाज्ञा, रागादि के कटु परिणामस्वरूप, कर्म के विपाक या लोक संस्थान के विचार से हुई हो, तब उसे धर्म-ध्यान कहा जाता है। और जब आत्मा की परम विशुद्धि के निमित्त सूक्ष्म तत्त्व के स्थिरचिंतन हुआ हो, तब उसे शुक्ल ध्यान कहा जाता है। इनमें प्रथम दो ध्यान अशुभ होने से त्याज्य हैं। और अंतिम दो ध्यान शुभ होने से उपादेय हैं। यहाँ ध्यान शब्द से इन दो ध्यानों को समझना है।

वास्तव में श्रमण–जीवन की साधना इन दोनों प्रकारों के ध्यानों को सिद्ध करने के लिए आयोजित की गई है। आत्मा जब कर्म–रहित बनती है, तभी मोक्ष की प्राप्ति होती है। आत्मा कर्म–रहित तभी बनती है, जब आत्मा शुक्ल ध्यान पर आसीन होती है। आत्मा शुक्ल ध्यान पर तभी आरुढ़ होती है, जब कि धर्मध्यान अच्छी तरह सिद्ध हुआ हो।

और जब मन आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान से निवृत्ति पाता है, तभी धर्म-ध्यान अच्छी तरह सिद्ध हो सकता है। तदुपरांत मनः संयम, चारित्र और आचार–पालन के योग से शांत और स्थिर होना चाहिए। अतः जैन श्रमण संसार का त्याग कर के संयम को स्वीकार करते हैं, चारित्र का रक्षण एवं विकास करते हैं और आचार पालन में प्रवीण हो, मन को शान्त और स्थिर बनाने के लिए लगातार प्रयत्नशील रहते हैं।

जैन श्रमण, श्रद्धा, मेधा, धृति, धारणा, और अनुप्रेक्षा को ध्यान-सिद्धि के मुख्य साधन मानते हैं। श्रद्धा है कलुषित चित्त के त्याग पूर्वक जीव, अजीव आदि तत्त्वों का प्रकाश प्राप्त करने की आंतरिक जाग्रति या रुचि। मेधा है मिथ्या शास्त्रों को छोडकर हेय और उपा-देय का यथार्थ विवेक कराने वाले सम्यक्–शास्त्रों के प्रति अत्यन्त आदर और उपादेयबुद्धि। धृति है धैर्य, मानसिक प्रणिधान, जिसमें दीनता–व्याकुलता आदि दोष रहित धीर एवं गंभीर आशययुक्त विशिष्ट मनः-प्रीति रहती हैं। धारणा का अर्थ है अविस्मरण, एक बार ग्रहण किए विषय को न भूलते हुए क्रमबद्ध याद रखना। और अनुप्रेक्षा का अर्थ, परम संवेग यानी धर्मरुचि, मोक्षरुचि को बढ़ानेवाला सूत्र तथा अर्थ पर एकाग्र चिंतन करना, यह है। इन पाँचों साधनों से आत्मा के अध्यवसाय क्रमशः शुद्ध होते जाते हैं और चित्त में विक्षेप डालने वाले कारण दूर हो जाते हैं। परिणामस्वरूप ध्यान की शुद्धि बहुत जल्दी होती है।

धर्मध्यान के चार प्रकार हैं। मन द्वारा सर्वज्ञ भगवन्तों की आज्ञा के वैशिष्टय सम्बन्धी जब लगातार एकाग्र चिंतन होता है, तब उसे आज्ञाविचय धर्मध्यान कहा जाता है। जब सांसारिक सुखों और

रागादि भावों द्वारा उपस्थित होने वाले अपाय (नुकसान) का लगातार एकाग्र चिंतन होता है, तो उसे अपायविचय धर्मस्थान कहा जाता है। जब कर्म के शुभाशुभ विपाक का सतत एकाग्र चिंतन होता है, तो उसे विपाकविचय धर्मध्यान कहा जाता है; और जब षड् द्रव्य और चौदह राजलोक क्षेत्र सम्बन्धी सतत एकाग्र चिंतन चल रहा हो, तब उसे संस्थानविचय धर्मध्यान कहा जाता है।

व्याक्षेप और संमोहादि रहित स्थिति, वह शुक्लध्यान का मुख्य लक्षण है। उसके भी चार प्रकार हैं। वितर्क याने श्रतज्ञान के आलम्बनपूर्वक किसी भी एक द्रव्यगत पर्यायों के भेद का विविधतापूर्वक एकाग्र चिंतन करना उसे पृथकत्व–वितर्क–सविचार शुक्ल ध्यान कहा जाता है। वितर्कपूर्वक यानी श्रुतज्ञान के आलम्बनपूर्वक द्रव्य के एक ही पर्याय का अभेद भाव से एकाग्र चिंतन करना, उसे एकत्व–वितर्क-निर्विचार शुक्ल ध्यान कहा जाता है। इस ध्यान पर लगते ही आत्मा की मूलभूत शक्तियों का अवरोध करने वाले ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय मोहनीय और अंतराय नामक चारों धाती कर्मों का नाश होता है। अर्थात् आत्मा के लिए अप्रतिहत ऐसे केवलज्ञान और केवलदर्शन प्रकट होते हैं। उसके कारण वह लोकोलोक के सभी पदार्थों के सर्वकाल सम्बन्धी सभी भाव ज्ञात कर सकते हैं और देख सकते हैं।

जिस ध्यान में स्थूल और सूक्ष्म मन, वचन और काया के योगों का निरोध करने की सूक्ष्म क्रिया ही रही हुई है, अर्थात् सूक्ष्म क्रिया से पतित होना नहीं है, उसे सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाती शुक्ल ध्यान कहा जाता है; और जो ध्यान क्रिया के बिलकुल समुच्छेद स्वरूप हो और

इससे निवृत्ति न हो, उसे व्युपरत–क्रियाऽनिवृत्ति शुक्ल ध्यान कहा जाता है। शुक्ल ध्यान के ये अंतिम प्रकार गुणस्थान की सर्वोच्च भूमिका पर अर्थात् तेरहवें गुणस्थानक के अंत में और चौदहवें गुणस्थानक पर पहुँचे जीवो में होते हैं। और उसका काल बहुत अल्प यानी अ, इ, उ, ऋ, ऌ ये पांच ह्रस्व अक्षर बोले जाय, उतना ही होता है। इस ध्यान से आत्मा वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र नामक शेष चार अघाती कर्मों का उच्छेद कर के चरमदेह (चरमदेह इसलिए कि उसे फिर देह धारण करना नहीं है।) का त्याग करती है। और उर्ध्व गति से एक ही समय में सीधे सिद्धशिला में पहुँचकर उसके अग्र भाग पर स्थिर होती है। यहाँ सिद्धावस्था प्राप्त सभी जीव अनंत काल तक अनिर्वचनीय सुख का उपभोग करते हैं।

(६) जैन श्रमण ध्यान–सिद्धि के लिए कायोत्सर्ग का मुख्य आलंबन यानी स्वीकार करते हैं। और यह क्रिया करते समय कैसे भी भयंकर प्रसंग उपस्थित हों या प्रलोभन के क्षण आ पहुँचे फिर भी अचल रहने का होता है। इसके बारे में शास्त्रों में कहा है कि :—

वासी–चंदणकप्पो, जो मरणे जीविए य सममण्णो।
देहे य अपडिबद्धो, काउस्सग्गो हवइ तस्स॥

शरीर को किसी तीक्ष्ण शस्त्र से छेद किया जाय या उस पर चंदन का शीतल लेप किया जाय अथवा जीवन टिके या जल्दी विनष्ट हो, फिर भी देहभावना से कलुषित न होते हुए मन को समभाव में स्थिर रखने से कायोत्सर्ग सिद्ध होता है। अर्थात् वह कायोत्सर्ग द्वारा

उत्तम प्रकार का ध्यान सिद्ध करने के लिए शक्तिमान होता है।

यहाँ ध्येय के बारे में भी थोड़ी सी स्पष्टता कर लें। क्योंकि भूमिका के अनुरूप उसका स्वरूप बदलता रहता है। प्रथम पिंडस्थ ध्येय का आलम्बन लिया जाता है, जिसमें पार्थिवी, आग्नेयी, मारुती, वारुणी और तत्त्वभू नामक पांच धारणाएँ सिद्ध करनी पड़ती हैं। बाद में पदस्थ ध्येय का आलम्बन लिया जाता है, जिसमें सूत्रगत भिन्न भिन्न प्रकार के वर्णों पर मन को स्थिर करना होता है। फिर रूपस्थ ध्येय का आलम्बन लिया जाता है, जिस में सभी अतिशयों से पूर्ण, केवलज्ञान से युक्त और समवसरण–स्थित अरिहंत प्रभु का ध्यान किया जाता है। इस ध्यान से साधक का मन अत्यंत स्थिर होता है। आखिर रूपातीत ध्येय का आलम्बन लिया जाता है और इसमें निरंजन, निराकार, चिदानंदघन सिद्ध परमात्मा का ध्यान किया जाता है। इस ध्यान से साधक में तन्मयता प्रगट होती है और उसका मन परमात्म-दशामें लीन होता है।

उत्सर्ग या व्युत्सर्ग का अर्थ त्याग है। द्रव्य और भाव के भेद से उसके दो प्रकार माने गये हैं। उनमें द्रव्य व्युत्सर्ग के चार प्रकार हैं:– (१) गणव्युत्सर्ग (लोक समूह का त्याग कर के एकाकी विहार करना), (२) शरीर व्युत्सर्ग (शरीर पर से माया ममता का सर्वांश त्याग करना), (३) उपधि व्युत्सर्ग (उपधि इत्यादि का त्याग करना) और (४) भक्तपान व्युत्सर्ग (खान–पान का सर्वथा त्याग करना)

भाव व्युत्सर्ग के तीन प्रकार हैं:—(१) कषाय व्युत्सर्ग, (२) संसार व्युत्सर्ग और (३) कर्म व्युत्सर्ग। इस तप का रहस्य यह है कि

सभी प्रकार की ममताओं का त्याग करके एकाकी भावसे विहार—करना, कषायों का त्याग करना, और सभी कर्मों का नाश हो ऐसे प्रयत्नों में लगे रहना चाहिए।

श्रमण भगवान महावीर देव ने अपने पूर्व के तीर्थंकरों की तरह बाह्य और आभ्यंतर तपश्चर्या की प्ररूपणा की है। और इसीलिए श्रमण उन दोनों प्रकारों की तपश्चर्या द्वारा कर्म—बन्धनों को नष्ट कर के मुक्ति का अनिर्वचनीय अनन्त अव्याबाध सुख प्राप्त करते हैं। फिर भी महावीर प्रभु के समकालीन गौतम बुद्ध ने कई स्थान पर इस तपश्चर्या को मात्र कायदण्ड के रूप में बताकर उसका उपहास करने का प्रयत्न किया है। सुज्ञ जन उसके औचित्य का विचार कर सकते हैं। जैन शासन में अज्ञान कायदण्ड नहीं है, परन्तु उस में मन, वचन और काया इन तीनों का संयम एवं शुद्धि करने का उपदेश है और इसीलिए बाह्य और आभ्यंतर, इस प्रकार दो तरह की तपश्चर्या का उल्लेख किया गया है। बुद्ध स्वयं पूर्ण तपश्चर्या न कर सके अथवा उनके द्वारा की गई तपश्चर्या से उन्हें अपेक्षित आत्म—प्रकाश न मिला, इसीलिए उन्होंने शारीरिक तितिक्षा को केवल कायदण्ड कह कर उसे निम्न कोटिका बताया और मन की शुद्धि पर जोर दिया। परन्तु शरीर और इन्द्रियों पर काबू आये बिना मन की शुद्धि कैसे संभवित हो सकती है? ऐसा प्रयत्न न करने से बौद्ध श्रमण अति शिथिल बन गए और उनके लिए एक विद्वान को कहना पड़ा कि:—

मृद्वी शय्या प्रातरुत्थाय पेया,
मध्ये भक्तं पानकं चापराह्ने।

द्राक्षाखण्डं शर्करा चार्धरात्रे,
मुक्तिश्चान्ते शाक्यपुत्रेण दृष्टा ॥

कोमल शय्या में सोना, प्रातः काल उठ कर दूध पान करना, मध्यान्ह काल को भोजन करना, पिछले प्रहर को मदिरा पान करना और अर्ध रात्रि को द्राक्षाखंड और सक्कर का उपयोग करना, इस प्रकार के धर्म के अंत में शाक्यपुत्र याने गौतमबुद्ध ने मुक्ति देखी थी।

तात्पर्य कि शरीर और इन्द्रियों को काबू में रख कर मन की शुद्धि की जाय, ऐसी तपश्चर्या सफल होती है। और उसका ही जैन श्रमण बड़ी सावधानी से अनुसरण करते हैं।

वीर्याचार

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के ऊपर बताए गए आचारों में बाह्य और आभ्यंतर सामर्थ्य बढ़ाना, उसे वीर्याचार कहा जाता है। इस के लिए निर्ग्रंथ नायकों ने उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पराक्रम का सिद्धान्त स्थापित किया है। कोई कार्य करने के लिए तैयार होना उसे उत्थान कहा गया है। इसके लिए प्रवृत्ति शुरू करना, उसे कर्म कहा जाता है। उसमें शारीरिक शक्ति का उपयोग करना उसे बल कहा गया है और उत्साह इत्यादि आंतरिक शक्तियों का उपयोग करना, उसे वीर्य कहा जाता है। तथा उस कार्य में चाहे कैसी भी मुसीबतें और रुकावटें क्यों न आवें; उनका प्रतिकार करना, उन्हें प्रसार करना, उसे पराक्रम कहा जाता है। वीर्याचार का रहस्य है कि क्रमशः इन पांचों भूमिकाओं पर आरोहण करके ज्ञानादि चारों में परम पुरुषार्थी बनना।

: १३ :

परिषहजय–तितिक्षा

तितिक्षा से देहाध्यास छूट जाता है और परिणामस्वरूप राग तथा द्वेष आदि के बन्धन टूट जाते हैं, और निरासंग दशा याने वीतराग दशा प्राप्त होती है। इसलिए जैन श्रमण बाईस परिषहजय के द्वारा तितिक्षा का नीचे लिखे अनुसार अनुभव करते हैं।

(१) क्षुधा–परीषह की जय अर्थात् देह भूख से घिरी हुई हो, श्वासोच्छ्वास बड़ी तेजी से चल रहा हो, और अंग कौअे की टांग जैसे दुर्बल हो गए हों, फिर भी दोष रहित अन्नपान ग्रहण करने के नियमों का थोड़ा भी अनादार नहीं करना चाहिए। उल्टा क्षुधा को आनन्द और कर्मक्षय की बुद्धि से सहना चाहिए।

(२) तृषा–परीषह की जय अर्थात् तृषा की असह्य पीड़ा हो, प्राण कंठ तक आ गए हों, फिर भी जल का उपयोग न किया जाय, तथा अचित्त जल लेने के नियम का थोड़ा भी भंग न किया जाय। और तृषा के आनन्द और कर्मनिर्जरा के उद्देशपूर्वक सहन करना चाहिए। इसी प्रकार निम्नोक्त परीषह भी आनन्द से और कर्मक्षय के उद्देशपूर्वक सहन करना चाहिए।

(३) शीत–परीषह की–जय अर्थात् कड़े में कड़ी भी ठंडी हो, अंग अंग को थर्रानेवाली ठण्ड़ी हो, हाथ पैर ठण्ड़े पड़ जाते हो, फिर भी अग्नि का उपयोग नहीं करना चाहिए याने अग्नि से शरीर को गर्म नहीं करना चाहिए। अधिक वस्त्रों का उपयोग नहीं करना चाहिए तथा नियम के विरुद्ध वस्त्रों या वस्ती का उपयोग नहीं करना चाहिए।

(४) उष्ण—परीषह की जय अर्थात् धूप सख्त पड़ती हो, सारा शरीर गर्मी से व्याकुल हो गया हो, गर्म पवन शरीर को शेंक रहा हो, फिर भी स्नान करने की इच्छा नहीं करनी चाहिए। अंगों पर जल का उपयोग नहीं करना चाहिए तथा पंखे का भी उपयोग करना नहीं है।

(५) डंस—मसक परीषह की जय अर्थात् डांस, मच्छर शरीर को बार बार डंख लगाते हों, परन्तु उन पर क्रोध नहीं करनेका है। उन्हें त्राहि भी नहीं करना चाहिए। लेकिन उस पीड़ा को सहर्ष सहना चाहिए।

(६) अचेल—परीषह की जय अर्थात् वस्त्र बिलकुल फट गए हों, अति भद्दे लग रहे हों, फिर भी नये वस्त्र पाने की चिंता या आशा करनी नहीं है।

(७) अरति—परिषह की जय अर्थात् गाँव-गाँव विहार करते अनियत स्थान पर निवास करने से तथा गोचरी के लिए स्थान स्थान पर घूमने से परेशानी नहीं माननी चाहिए। तथा संयम पर अरुचि भी नहीं करनी चाहिए।

(८) स्त्री—परीषह की जय अर्थात् स्त्री चाहे उतनी स्वरूपवान हो, वस्त्रालंकारों से विभूषित हो, अथवा अपने ओर प्रीति रखने वाली हो, फिर भी जरा भी ललचाना नहीं है।

(९) चर्या—परीषह की जय अर्थात् परीषहों की परवाह किए बिना ग्राम, नगर और देश में अप्रतिबद्धरूप से विहार करते रहना चाहिए। जैन श्रमण चातुर्मास के चार मास एक स्थल पर स्थिर रहते हैं, शेष आठ मास विहार करते रहते हैं।

(१०) निषद्या—परीषह की जय अर्थात् स्थिर होने के लिए यदि कोई अनुकूल और अच्छा स्थल न मिले तो, उसका खेद न करते हुए श्मशान, शून्य घर या किसी वृक्ष की छाया इत्यादि, जो कुछ भी मिल जाय, वहाँ शान्त और स्वस्थ चित्त से स्थिर होना चाहिए।

(११) शय्या—परीषह की जय अर्थात् सोने के लिए योग्य स्थान प्राप्त न हो या शय्या, आसन या पाट न मिले तो आसन पर बैठे रहें; परन्तु किसी भी जगह सो जाना नहीं चाहिए।

(१२) आक्रोश—परीषह की जय अर्थात् कोई भी व्यक्ति समझकर या बिना समझे गुस्सा करे, अति कडुए वचन कहे, फिर भी उसके प्रति क्रोध नहीं करना चाहिए।

(१३) वध—परीषह की जय अर्थात् किसी भी स्थल पर मार खाना पड़े, बंधन मिले या वध होने की नौबत आए, तब इसी विचार से समता में मग्न रहना चाहिए कि "जीव का नाश होनेवाला नहीं है।"

(१४) याचना—परीषह की जय अर्थात् श्रमण को हरएक चीज के लिए याचना करनी पड़ती है। इसलिए खेद नहीं करना।

(१५) अलाभ—परीषह की जय अर्थात् कितना भी घूमने पर भी यदि किसी स्थल पर भिक्षा न मिले तो खेद नहीं करना है। परन्तु चित्त से ऐसा मानकर कि 'इससे लाभांतराय कर्म भोगा जाता है' समभाव में स्थिर रहना है।

(१६) रोग—परीषह की जय अर्थात् शरीर में रोग की उत्पत्ति हो, व्याधि का हमला हो या एकाएक कोई पीड़ा हो, उसे शान्त भाव से सहना है, व्याकुल हो जाना नहीं है।

(१७) तृण–स्पर्श परीषह की जय अर्थात् तृण के संथारे पर सोते और बैठते समय कठोर स्पर्श होने से खेद नहीं करना है।

(१८) मैल–परीषह की जय अर्थात् मैल को सहर्ष सहन करना, किन्तु उसे दूर करने की इच्छा से स्नानादि की इच्छा नहीं करनी चाहिए।

(१९) सम्मान–पुरस्कार परीषह की जय अर्थात् मन से श्रीमंतों या नृपतियों से सम्मान--पुरस्कार पाने की इच्छा या पाने पर हर्ष नहीं करना है।

(२०) प्रज्ञा–परीषह की जय अर्थात् प्रज्ञा बहुत होने पर भी उसका गर्व या दुरुपयोग करने की इच्छा नहीं करनी चाहिए।

(२१) अज्ञान–परीषह की जय अर्थात् प्रयत्न करने पर भी विद्या आती न हो और किसी के द्वारा पूछे गए प्रश्न का उत्तर दिया जा सकता न हो तो, इससे खेद या शोक न करते हुए अपने संयम को छोड़ना नहीं है, परन्तु ज्ञानोपासना के सत्पुरुषार्थ में लगे रहना चाहिए।

(२२) दर्शन–परीषह की जय अर्थात् धर्माचरण का फल तात्कालिक न दिखाई पड़ने से या अन्य किसी भी कारण को लेकर वीतराग प्रणीत धर्म या तत्त्व पर से मन जब डाँवाडोल स्थिति का अनुभव करे तब मन का वह परिताप सहन कर लेना चाहिए, परन्तु व्रत, नियम या संयमादि धर्म या तत्त्व में अश्रद्धा नहीं करनी चाहिए।

तितिक्षा भी संयम का ही एक प्रकार है। परन्तु वह विशिष्ट रूप से समझने योग्य होने से यहाँ उसका स्वतंत्र निर्देश किया गया है।

जैन श्रमणकी दैनिक विविध योग-साधना:- जपयोग, स्वाध्याय योग, कायोत्सर्गयुक्त ध्यानयोग, जीवरक्षार्थ वस्त्र-पात्रादि प्रतिलेखना योग, ग्लानसेवा ।

:१४:

दिनचर्या

जैन श्रमण प्रातः काल में बहुत पहले उठ कर पंचपरमेष्ठि का जाप करते हैं, आत्मचिंतन करते हैं, रात्रिदोष की शुद्धि करते हैं, परमात्म–वंदनादि करके एक प्रहर शास्त्र स्वाध्याय करते हैं और बाद में प्रतिक्रमण करके सूर्योदय से अन्य धर्म–क्रियाओं में प्रवृत्त होते हैं। यहाँ प्रतिक्रमण के बारे में थोड़ी सी स्पष्टता करेंगे। संयम मार्ग की साधना बहुत दुष्कर है। उसका निरतिचार अर्थात् दोष रहित पालन हो, तो उसमें सिद्धि प्राप्त होती है। परन्तु ऐसी स्थिति तुरन्त प्राप्त होती नहीं है। पूर्व संस्कारों की प्रबलता के कारण तथा अन्य परिस्थितिवश उसमें छोटी–बड़ी स्खलनाएँ हो जाती हैं, अर्थात् छोटे–बड़े अतिचार लग जाते हैं। यदि साधक आत्म–निरीक्षण की आदत रखे तो उसे इन स्खलनाओं–अतिचारों का स्पष्ट ख्याल आ जाता है और पुनः ऐसी स्खलनाएँ–अतिचार न हों, उसका निश्चय करके अपनी साधना में आगे बढ़ सकता है। इसीलिए जैन श्रमणों को प्रातः और सायं दो बार प्रतिक्रमण अवश्य करना होता है। उसमें देव–गुरु को विधिपूर्वक वंदना करके ज्ञात–अज्ञातरूप से हुई स्खलनाओं की आलोचना करनी पड़ती है; और उसके लिए हृदय का सच्चा पश्चाताप व्यक्त करके आवश्यक प्रायश्चित को स्वीकार करके शुद्ध होना है। फ़िर उसमें दर्शन (श्रद्धा), ज्ञान और चारित्र की शुद्धि के निमित्त विशेष कायोत्सर्ग करना पड़ता है। और शक्ति के अनुसार तपश्चर्या की प्रतिज्ञा करके वह विधि पूरी

करनी पड़ती है। कमरे को हररोज़ साफ़ किया जाय तो स्वच्छ रहता है। बर्तनों का रोज साफ़ किया जाय, तभी चमकते हैं। उसी प्रकार प्रतिक्रमण द्वारा आत्मा का हररोज निरीक्षण करने से वह पवित्र रहती है और आखिर में संपूर्ण संयमी बनकर वीतरागता को प्राप्त करती है। हर पंद्रह दिनको, प्रति चार मास को, और वर्ष के अंत में यह क्रिया विशेष रूप से की जाती है, उसका भी उद्देश्य यही है।

प्रातःकालीन क्रियाओं में प्रथम प्रतिलेखना—पडिलेहणा होती है। उसके द्वारा वस्त्र, पात्र और संयम के अन्य साधनों का सूक्ष्म अवलोकन किया जाता है। कोई जीवजंतु आ गया हो तो उसे यतनापूर्वक दूर किया जाता है और फिर सब को व्यवस्थित कर के यथास्थान रख दिया जाता है। बाद में निकट के जिन—मंदिर में जा कर दर्शन—स्तुति वंदना करते है और बाद में गुरु की आज्ञा के अनुसार वैयावृत्य या स्वाध्याय की प्रवृत्ति में लगते है।

स्वाध्याय के समय आचार्य सूत्र—सिद्धांत का विद्वत्तापूर्ण व्याख्यान करते हैं और श्रमण उसे अनन्य चित्त से ग्रहण करके श्रुतज्ञान की अभिवृद्धि करते हैं। इस प्रकार अरिहंतों द्वारा उद्‌बोधित सिद्धांतों का रहस्य वर्तमान श्रमणों तक पहुँचता है और वे उसे जन—हृदय में डालने के लिए असाधारण पुरुषार्थ करते हैं।

जैन श्रमण श्रोताओं की भूमिका को देख कर धर्म का उपदेश करते हैं। उन में प्रथम भूमिकावालों को वे न्याय, नीति, दया, दान, परोपकार, सदाचार इत्यादि का रहस्य समझाते हैं। और इस के लिए आवश्यक नियम बताते है कि जिससे उनमें सुसंस्कारों का सींचन हों

और आगे जा कर त्याग तपश्चर्या के लिए योग्य आराधना करने की शक्ति पैदा हो। दूसरी भूमिकावालों को वे तत्त्वों का और धर्म का स्वरूप समझाते हैं और उनके भिन्न भिन्न अंगों की विशद समीक्षा करते हैं कि जिससे उनमें देशविरति अर्थात् गृहस्थ धर्म और सर्व-विरति अर्थात् साधु–धर्म के पालन के लिए उत्कट अभिलाषा जाग्रत हो। इससे भी उच्च भूमिकावालों को वे योग, अध्यात्म, ध्यान और तत्त्वों का सूक्ष्म रहस्य समझाते हैं कि जिससे उनके मन की गहराई में शंका-वासनादि जो शल्य भरे पड़े हैं; वे बह जायें और मोक्ष के मार्ग पर आगे कदम रखने का अपूर्व उत्साह पैदा हो।

जैन श्रमणों की वाणी निर्दोष, मधुर और हितकर होने से लोगों को उनका उपदेश सुनने की इच्छा होती है। और उस उपदेश का उन के मन पर गहरा असर पड़ता है। यह कहने की शायद ही आवश्यकता होगी कि योग्यता को देखे बिना उपदेश करना उसका कोई अर्थ नहीं रहता।

प्रातः काल का स्वाध्याय लगभग दूसरे प्रहर के अंत तक जारी रहता है। उसे पूरा करने के बाद जैन श्रमण गोचरी के लिए निकलते हैं। और अपने लिए अनुकूल आहार ले आते हैं। वे गोचरी में प्राप्त सभी चीज़ें प्रथम गुरु को बताते हैं और गुरु की अनुज्ञा पा कर उसका उपयोग करते हैं। गरम–ठंड़ी, मीठी–अस्वादिष्ट, खारी–खट्टी सभी चीजें उनके मन समान होती हैं। अतः उन्हें बिना रागद्वेष उपयोग में लेते हैं।

जैन श्रमण उपवास, आयंबिल, एकाशन, वृत्तिसंक्षेप आदि छोटी-बड़ी तपश्चर्याएँ करते ही होते हैं और देह का अस्तित्व जारी रखने के

लिए ही आवश्यक आहार–पानी को ग्रहण करते हैं, इसमें से वे किसी चीज़ को छोड़ देते नहीं हैं, या दूसरे दिन काम में आयेगी, इस ख्याल से उसका संग्रह करते नहीं हैं।

जैन श्रमण आहार करने के बाद फिर स्वाध्याय, ध्यान आदि प्रवृत्तियों में लग जाते हैं। तथा मिलने के लिए आए हुए मुमुक्षुओं से धर्म सम्बन्धी कथा, चर्चा, वार्तालाप आदि करते हैं और योग्य मार्गदर्शन देते हैं। उनकी यह प्रवृत्ति लगभग सायंकाल तक जारी रहती है। तीसरे प्रहर के अंत में वे वस्त्रादि की पुनः प्रतिलेखना करते हैं और यदि आहार-पानी लेना हो तो, चतुर्थ प्रहर के अंत में लेकर सायंकाल के प्रतिक्रमण की तैयारी करते हैं।

सायंकाल का प्रतिक्रमण समाप्त करके वे सूत्र–सिद्धान्त का परिवर्तन करते हैं, मुमुक्षुओं के साथ धर्म–गोष्ठी करते हैं या कायोत्सर्ग द्वारा धर्म–ध्यान का अभ्यास बढ़ाते हैं। यहाँ एक बात विशेष उल्लेखनीय है कि वे रात्रि के समय दीप या विद्युत–प्रकाश का बिलकुल उपयोग नहीं करते हैं।

इस प्रकार मुनि प्रभात के पूर्व ही रात्रि के अंतिम प्रहर में जग कर स्वाध्याय, ध्यान तथा अन्य धर्मानुष्ठानों में ही लगातार प्रवृतिशील रह कर सारा दिन तथा दिन के अंत तक एवम् रात्रि के प्रथम प्रहर तक मोक्षमार्ग की स्व–पर उपकारक साधना में रत रहते हैं। अब साधना के लिए उपयोगी देह का आवश्यक विश्रान्ति देने की तैयारी करते हैं। इसलिए दैनिकचर्या में अंतिम संथारा पोरिसी की विधि की जाती है। उसमें सर्व प्रथम संभवित जीव–विराधना के पाप का नष्ट

करने के लिए इर्यापथिकी–प्रतिक्रमण की क्रिया की जाती है। बाद में सर्वविघ्नहर श्री पार्श्वनाथ भगवान् की विशिष्ट स्तुति करते हुए सूत्रों को पढ़कर भावजिन की स्तवना, सर्वकाल के जिनेन्द्र देवों का नमस्कार, समस्त जिन–चैत्यो का वंदना, और समस्त साधु भगवंतों का प्रणाम करके पंच–परमेष्ठि का नमस्कार किया जाता है। बाद में प्रणिधान–सूत्र द्वारा भवनिर्वेद, मार्गानुसारिता, लोकविरुद्ध कार्यों का त्याग, गुरुजन-सेवा, परोपकार, इत्यादि तथा भव–भव जिनाज्ञा की उपासना, समाधि–मृत्यु इत्यादि का प्रणिधान किया जाता है।

तत्पश्चात् मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करते हुए दोषों का निषेध करके सूत्र पठन द्वारा गणधर श्री इन्द्रभूति गौतमस्वामी इत्यादि महा-मुनियों का तथा पंच–परमेष्ठियों का नमस्कार एवं पाप–व्यापारों के त्याग की पुनः प्रतिज्ञा की जाती है। इस प्रकार तीन वार करने के बाद संथारा अर्थात् विश्रान्ति करने के लिए श्रेष्ठ–आचार्यों की संमति की मांग इत्यादि सूचक सूत्र पढ़ा जाता है। उसे संथारा पोरिसी सूत्र कहा जाता है।

इस संथारा पोरिसी सूत्र में विशेष करके भावनाएँ की जाती हैं। उनमें एक भावना यह है कि यदि नींद में ही आयुष्य की पूर्णाहुति हो जाय तो शरीर, उपकरण और आहार का ममत्व न हो तथा परलोक में जाते समय यह ममत्व साथ में न हो, इसलिए उनके त्याग का संकल्प किया जाता है। आत्मा को जन्म पाने के बाद आवश्यक ऐसे भी शरीरादि पर पदार्थों पर आसक्ति–ममत्व न रह जाय, इसके लिए यह भावना आवश्यक है। इसकी गाथा इस प्रकार है:—

जइ मे हुज्ज प्रमाओ, इमस्स देहस्स इमाइ रयणीए।
आहारमुवहि देहं, सव्वं तिविहेण वोसिरियं॥

तत्पश्चात् प्राणातिपात (हिंसा) आदि अठारह पापस्थानक जो मोक्षमार्ग की साधना के लिए अवरोधक और दुर्गति के कारण स्वरूप है उनका स्मरण करके उन्हें त्याग करने का संकल्प किया जाता है। इसका सूत्र है,

वोसिरसु इमाइं मुक्खमग्ग-संसग्ग-विग्घभूयाइं।
दुग्गइ-निबंधणाइं अट्ठारस पावठाणाइं॥

जीवन में पाप का एक भी स्थानक बाकी न रह जाय, इस का यह सूचक है।

बाद में साधु, जगत के दो मुख्य तत्वों,-जीव और जड़-में से अपने जीवात्मा के वास्तविक स्वरूप की जाग्रति रहे, इसलिए यह भव्य भावना पढ़ाई जाती है कि:—

एगो हं नत्थि मे कोई नाहमन्नस्स कस्सई।
एवं अदीणमणसो अप्पाणमणुसासइ॥
एगो मे सासओ अप्पा नाण-दंसण-संजुओ।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा॥
संजोगमूला जीवेण पत्ता दुक्खपरंपरा।
तम्हा संजोगसम्बन्धं सव्वं तिविहेण वोसिरियं॥

इस गाथा का भावार्थ इस प्रकार है:—

इस संसार में मैं अकेला हूँ अर्थात् मेरा कोई स्वजन नहीं है,

ऐसे मैं भी किसी का स्वजन नहीं हूँ। इस प्रकार साधु दीनता रहित मन से विचार कर के आत्मा को सावधान करता है। क्योंकि आत्मा एकाकी जन्म पाती है और मरती है। कर्म बंधन भी एकाकी ही करती है एवम् उस के फल भी अकेली ही भोगती है। तथा परलोक की विविध गतियों में अकेली ही भ्रमण करती है। ऐसी स्पष्ट हकीकत हो, तब बिलकुल दीन हुए बिना अपने एकाकीपन का ठीक विचार कर के आत्मभाव में मग्न रहना चाहिए। इसलिए साधु विचार करते हैं कि 'मेरी आत्मा अकेली और शाश्वत है। तथा ज्ञान दर्शन द्वारा युक्त है। शेष सभी पदार्थ आत्मा से बाह्य भाव हैं, आत्मा को कुछ भी हितकारी नहीं। उन बाह्य भावों के संयोग से मेरी आत्मा ने इस विशाल भवसागर में भीषण दुःखों की परंपरा प्राप्त की है। अतः सर्व प्रकार के संयोग–संबन्धों से मेरी आत्मा को मन, वचन और काया से मुक्त करना चाहता हूँ।"

अर्थात् हे आत्मन्। तू शाश्वत है, संसार का कोई भी आक्रमण तेरे असंख्य प्रदेशों में से एक भी प्रदेश का विनाश करने की ताकात नहीं रखता है? तो फिर तुझे क्या चिंता है? तू शुद्ध ज्ञानदर्शन की अनंत–असीम संपत्तिशाली है। तब बाह्य सुख–दुःखादि के आवागमन में किसी प्रकार का हर्ष या विषाद क्यों करना चाहिए? क्योंकि इससे सच्चिदानंदघन स्वरूप तेरी ज्ञान–दर्शन की संपत्ति में कोई वृद्धि या पुष्टि तो होती नहीं है। उल्टा बाह्य पदार्थों और रागद्वेषादि भावों को लेकर ही तू आजतक दुःखी–दुःखी रहा है; दुःखों की परंपरा को पाया है। संयोग तो विनश्वर होने से पलटते ही रहते हैं, परन्तु तुझे दुःख का अखंड प्रवाह सहना पड़ता है। इसलिए ऐसे संयोगमात्र को त्याग करने

का संकल्प कर ले, सम्बन्धमात्र से मुक्त हो जा, और आत्मा को असांयोगिक शुद्ध आनन्द में मग्न कर दे।

साधु इस प्रकार भावना करने के बाद तीन बार सम्यग्दर्शन का पुनः स्मरण और परमेष्ठि-नमस्कार कर के जगत के जीवों के प्रति क्षमापना करते हैं। और अपने मन, वचन और काया के दुष्कृत्यों के पश्चात्ताप स्वरूप मिथ्या दुष्कृत्य देते हैं।

जैन श्रमण इस प्रकार रात्रि के प्रथम प्रहर के अंत में मंगलविधि और भावना कर के तृण या ऊनी संस्तारक पर और चातुर्मास में पाट पर ऊनी आसन रखकर किसी जीव का नाश न हो पावे, इसलिये आसन और अपने शरीर को प्रमार्जना करने के बाद शयन करते हैं और शांतिपूर्वक निद्रा लेते हैं। अनुभवी लोगोंने ठीक ही कहा है कि सभी प्रकार की तृष्णाओं से परे ऐसे साधु–पुरुषों को जो सुख मिलता है, वह सुख लाखों–करोडों रुपये की संपत्ति के मालिक तथा छः खंड धरती के स्वामी और अपूर्व रिद्धि–सिद्धिवाले देवों के नसीब नहीं होता है।

: १५ :

पदाधिकार

जो जैन श्रमण विधिपूर्वक अमुक शास्त्राभ्यास करते हैं, उन्हें गणिपद दिया जाता है, अमुक शास्त्राभ्यासवालों को पंन्यासपद दिया जाता है, सभी जिनागमों तथा महत्वपूर्ण शास्त्रों में पारंगत होनेवाले को उपाध्याय का पद दिया जाता है और शास्त्र पारंगत के उपरान्त विशिष्ट योग्यता रखनेवाले को आचार्य पद अर्पण किया जाता है। इस

जगद्गुरु पू. आचार्यदेवश्री विजयहीरसूरीश्वरजी के उपदेश और अहिंसादि गुणोंसे आकृष्ट हो कर प्रतिबोधित हुए मुगल सम्राट बादशाह अकबर महातीर्थ श्रीशत्रुंजय आदि पवित्र स्थानों के स्वतंत्र हक का अधिकारपत्र तथा भारतव्यापी छःमासिक हिंसानिषेधके अपने सुबाओं पर भेजे गए फरमान पत्र उन्हें दे रहे हैं ।

प्रकार आचार्यपद पानेवाले श्रमण गच्छ अर्थात् अमुक साधु समूह के अग्रणी माने जाते हैं। और वे जिनशासन के प्रति विश्वसनीय रहकर सभी प्रवृत्तियों का संचालन करते हैं। विशेष करके वे अपने हाथ नीचे के श्रमणों की बार बार देखभाल करते हैं और उन्हें दोष न लगे इस लिए उनको अपनी भूलों की याद दिलाते हैं। उनके चारित्र में अतिचार लग रहा हो, या किसी प्रकार के अतिचार–अनाचार का सेवन होता हो, तो उसका वारण करते हैं तथा यदि श्रमण प्रमादी बनते जा रहे हों और ज्ञान–ध्यान की प्रवृत्ति में शिथिल बन गए हों तो उन्हें सन्मार्ग पर लाने की प्रेरणा देते हैं। फिर भी न मानते हों तो उन्हें बार बार कठोर शब्द कहकर भी उन्हें सदाचार–सत्क्रिया में प्रवृत्त करते हैं। संक्षेप में आचार्य की कार्य–कुशलता पर ही श्रमण–संघ की स्थिरता, प्रवृत्ति और प्रगति का सारा आधार है।

: १६ :

लोकोपकार

जैन श्रमणों द्वारा जो लोकोपकार हो गए है और हो रहे हैं, उनका वर्णन करने के लिए तो एक स्वतंत्र ग्रंथ ही लिखा जा सकता है। परन्तु यहाँ प्रकरण के अनुरूप उनका संक्षेप में निर्देश करके प्रस्तुत निबंध को समाप्त करेंगे।

जैन श्रमणों ने अनेक राजा–महाराजाओं को धर्म का उपदेश देकर उनके राज्यों में से जूआ, चोरी, मांसभक्षण, मदिरापान, परस्त्री-सेवन, वेश्यागमन और शिकार इत्यादि कुप्रवृत्तियों को दूर करवाया है

तथा उनके द्वारा लाखों–क्रोडों मूँगे पशुओं को अभयदान दिलवाये हैं। तदुपरांत कारागार में रहकर नर्क की यातनाओं को भोगनेवाले हजारों बंदीजनों को मुक्त करने के आदेश दिलवाये हैं। प्रजा को कड़े करों से मुक्ति दिलवाई है। इसके अलावा उन्होंने राजा महाराजाओं को स्तूप तथा चैत्य बँधवाने की, तीर्थों की मरम्मत करवाने की तथा विविध रूप से श्रुतज्ञान की प्रभावना करने की प्रेरणा दी है। तात्पर्य कि जनता का नैतिक स्तर उन्नत रहे तथा जनता सर्वदा धर्माभिमुख बनी रहे, इसके लिए उन्होंने भारी परिश्रम किया है।

जहाँ राजा–महाराजाओं ने या सत्ताधिकारियों ने सत्ता के नशे में पागल बन कर प्रजा के प्रति पाशवी वृत्तियों का प्रदर्शन किया है, और अनेक बार कहने पर भी संत–साध्वियों को सताने का जारी रखा वहाँ उन्होंने उग्र बनकर दण्ड भी दिया है। और इस प्रकार उनकी बुद्धि को ठीक करके न्याय, नीति और धर्म को पुनः स्थापित किया है।

जैनाचार्यों के सदुपदेश से उनके अनुयायियोंने लाखों–करोडों रुपये खर्च करके कलात्मक गगन–चुम्बी भव्य जिनालय बँधवाये हैं। जीर्णावस्था वाले प्राचीन तीर्थों का उद्धार करवाया है। यात्रा के निमित्त अपूर्व संघ निकालने का आयोजन किया है। जिससे हजारों लोगों को धर्मरस, पवित्रता इत्यादि प्राप्त होने के अलावा रोजी भी मिली है। हजारों ताड़पत्र और पुस्तकें लिखवा कर ज्ञान–भण्डार स्थापित किए हैं। अन्न का एक दाना न मिले, ऐसे दुष्काल के समय में लोगों के लिए अपने सभी अन्न–भण्डार खुले रख दिए हैं और देश की स्वतंत्रा की रक्षा के लिए धन, माल और यावत् प्राण तक सर्वस्व के बलिदान भी दिए हैं।

यह परिणाम जैनाचार्यों—जैन श्रमणों के उपदेश का ही है कि अतिथि—अभ्यागत के लिए जैन गृहस्थों के द्वार सर्वदा खुले रहते हैं और परोपकार की किसी प्रवृत्ति में अपने नाम प्रथम पंक्ति में दर्ज करवाते हैं। जैन श्रमणों के उपदेश से दयालु बने हुए गृहस्थ ढले, या अशक्त पशुओं के पालन के लिए पिंजड़ापोल बंधवाते हैं। पक्षियों को खाने के लिए आवश्यक अनाज तथा पीने के लिए आवश्यक पानी मिल रहे, इसलिए परबड़ी बंधवाते हैं, मच्छीमार के फंदे में से मछलियों को छुड़ाते हैं, कसाइयों के क्रुर हाथों होने वाली हत्याओं से निर्दोष पशुओं को बचाते हैं तथा किसी भी दीन—दुःखी व्यक्ति को यथाशक्ति सहायता करके आत्म संतोष का अनुभव करते हैं।

जैन—श्रमणों की उपदेश—धारा चोर, लुटेरे ओर हत्यारे और युद्ध पिपासुओं तक पहुँच पायी है। और उनका जीवन—परिवर्तन करने में सफल सिद्ध हुई है। हजारों मनुष्य एक साथ हिंसक शस्त्रों को छोड़कर कृषि, गोपालन या वाणिज्य जैसे सरल शाहूकारी व्यवसाय का आश्रय लेते हैं; यह सामान्य बात नहीं है। आज अपराधियों के नियंत्रण में रखने के लिए तथा उन्हें सुधारने के लिए प्रति वर्ष कॉर्ट—कचहरियों तथा पुलिसों का दिल को थर्राने वाला जो व्यय करना पड़ता है, फिर भी इच्छित नियंत्रण करने में सफलता नहीं मिलती है—उसकी तुलना में बिना खर्च होने वाला यह लोकोपकार कितना प्रशंसनीय है! भारत वर्ष की अपराधी जातियों में जो कुछ भी सुधार हुआ है; उसका श्रेय तो ऐसे संत—महात्माओं के प्रयत्नों को ही मिल सकता है।

जैन श्रमणों ने साहित्यिक क्षेत्र में भी बहुत सुन्दर और प्रशंसनीय कार्य किया है। धर्म, तत्त्वज्ञान, योग, अध्यात्म, भाषा, गणित, ज्योतिष, मंत्र, तंत्र आदि सभी विषयों को अपनी निर्मल प्रज्ञा का प्रसाद दिया है। हमारी यही अभ्यर्थना है कि:—

भारतीय समाज तथा भारत का राजकर्ता वर्ग जैन–श्रमणों को सच्चे स्वरूप में पहचान कर उनकी महान शक्तियों का सदुपयोग अपने और देश के विकास के लिए करे।

मुद्रक : गुणवंत कीठारी, सुभाष प्रिन्टरी, डॉ. टंकारीया रोड, अहमदाबाद